महोपाध्याय श्री यशोविजयगणिप्रणीता

* जैन तर्क भाषा *

(हिन्दी–अनुवादसहिता)

:: अनुवादक ::

पं. शोभाचन्द्र भारिल्ल

– प्रकाशक मंत्रीगण –

श्री तिलोक रत्न स्थानकवासी जैन धार्मिक परीक्षा बोर्ड
पा थ र्डी, (अ ह म द न ग र)

मूल्य पच्चीस रुपये सिर्फ

प्रकाशक :
पं. बदरीनारायण शुक्ल
पं. शोभाचन्द्र भारिल्ल
पं. चन्द्रभूषण मणि त्रिपाठी
मन्त्रीगण–पुस्तक प्रकाशन
विभाग
श्री तिलोक रत्न स्थानकवासी
जैन धार्मिक परीक्षा बोर्ड
पाथर्डी. जि. अहमदनगर

प्रथमावृत्ति १०००
वीर सं. २४९० सन् १९६४

卐
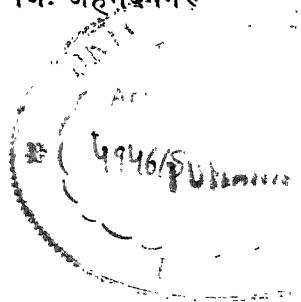
मूल्य ५ रुपये

मुद्रक :
बदरीनारायण द्वारकाप्रसाद
शुक्ल
श्री सुधर्मा मुद्रणालय, पाथर्डी
(अहमदनगर)

प्रकाशकीय—

महोपाध्याय श्री यशोविजयगणिविरचित जैन तर्क भाषा का दार्शनिक जगत् में महत्त्वपूर्ण स्थान है। उपाध्यायजीके प्रगाढ़ पाण्डित्य और गंभीरतम विचारोंकी इस ग्रन्थ में सुस्पष्ट झलक मिलती है। विवेचन-शली सुन्दर है, किन्तु उसमें गूढ़ता भी अत्यधिक है। जिस विषयका प्रतिपादन करना होता है, उसके बारेम जैन-अजैन किसी भी दार्शनिक दृष्टिकोण को पूर्व पक्ष के रूपमें चर्चार्थ प्रस्तुत करते समय वे ऐसी खूबी रखते हैं जिसे अध्येता सहज ही नहीं समझ सकता। पर जब उसे उस ग्रन्थिका रहस्य भली-भाँति समझ आता है तब उपाध्यायजी की अप्रतिम प्रतिभा और विशिष्ट शैली के विषयमें श्रद्धा और आदर की भावना और बढ़ जाती है, इसीलिये अध्येता और अध्यापक ग्रन्थ की निजी विशेषता के बारेमें मुक्तकण्ठ से प्रशंसा करते हैं।

प्रस्तुत ग्रन्थ अनेक विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रमोंमें निर्धारित है। इसीलिये इसके आशय को सुस्पष्ट करने के लिये कई टीकाएँ हुई हैं और वे सब प्रकाशन संस्थाओं के द्वारा प्रकाशित होकर जिज्ञासुओं के समक्ष प्रस्तुत की गई हैं, किन्तु स्वतंत्र भारत की राष्ट्रभाषा में अद्यावधि कोई अनुवाद इस ग्रन्थ का नहीं हो सकनेके कारण विद्यार्थियों की तरफ से हमारे पास बार-बार माँग होती रहती थी, अनेक अध्यापकों के भी इस तरफ संकेत थे।

श्रमण संघके आचार्यसम्राट् परमश्रद्धेय महामहिम पंडितरत्न जैनदिवाकर पूज्य श्री १००८ श्री आनन्द ऋषिजी म. समाज में सम्यक् ज्ञान-दर्शन-चारित्रका प्रचार विशेष रूपमें हो, एतदर्थ स्वयं जागरूक रहते हुये जनता का ध्यान इस ओर आकृष्ट करना आवश्यक समझते हैं।

बदनौर चातुर्मास में आपने एक शिष्य को जैन-तर्क भाषा का अध्ययन कराते समय शिष्य द्वारा पुनः पुनः पूछे जानेपर उक्त ग्रन्थ के विषयमें शिष्य की कठिनाई का अनुभव किया और छात्रोंद्वारा इसके हिन्दी अनुवाद की माँग की यथार्थता पर आपका ध्यान आकृष्ट हुवा।

पूज्य श्रीजी का सं. २०१८ का चातुर्मास आश्वी जिला अहमदनगरमें हुआ। उस समय कई विद्यारसिक श्रावकोंने पाथर्डी परीक्षा बोर्ड की उच्च परीक्षाओं के पाठ्यग्रन्थों के प्रकाशनार्थ अपनी उदार भावना अभि-व्यक्त की थी। अबतक बोर्ड का पुस्तक प्रकाशन विभाग, जैन सिद्धान्त विशारद परीक्षा तक के पाठ्यग्रन्थों के प्रकाशन में अपनी शक्ति का उपयोग कर रहा था। जब समाज के उदारहृदयी सद्गृहस्थों के सहयोग विशिष्ट ग्रन्थों के प्रकाशनार्थ भी प्राप्त होने लगे, तब इसकी क्षमता और अधिक बढ़ जानेसे जैन सिद्धांत शास्त्री और जैन सिद्धान्ताचार्य के पाठ्य ग्रन्थों के प्रकाशन का इसने निश्चय किया।

पूज्य श्री जी का चातुर्मास सं. २०१९ में घाटकोपर में हुआ, उस समय प्रसिद्ध महासतीजी श्री रंभाजी म., विदुषी श्री सुमति कुँवर म., ज्ञानसंपादन परायणा श्री चन्दनकुमारीजी म., आदि सतीपरिवार के साथ चातुर्मासार्थ घाटकोपर में ही विराजित थीं। इस सतीपरिवार में जैन तर्कभाषाका अध्ययन चालू था, विद्वत्परिषद् के प्रसंगसे हम तीनों मन्त्री वहाँ उपस्थित हुये थे। उस समय जैन तर्क भाषा के हिन्दी अनुवाद का प्रश्न उठा और उस कार्य को अतीव उपयुक्त मानकर बोर्ड के पुस्तक प्रकाशन विभाग ने उसकी सहर्ष

स्वीकृति दे दी। बोर्डके साहित्य-मन्त्री पं. शोभाचन्द्रजी भारिल्ल को अनुवाद का कार्य सौंपा गया, जिसे पंडितजी ने बडी तत्परता के साथ यथाशक्य शीघ्र हीं सम्पादित कर दिया।

पाथर्डी परीक्षाबोर्ड के निजी मुद्रणालय 'श्री सुधर्मा मुद्रणालय' के अन्दर इसके मुद्रणकी व्यवस्था की गई। मुद्रण का कार्य पूर्ण होते ही अनेक स्थानोंसे पुस्तक की माँग तेजी से आने के कारण बाइंडिग के पहले ही अनेक प्रतियाँ कच्ची बाइंडिंग होकर भेज दी गई। अनुवाद की प्रशंसाके साथ कुछ विद्वानोंने उसमें 'विशिष्ट स्थलोंके विवेचन-स्पष्टीकरण का एक परिशिष्ट अन्त में जोडनेका भी सुझाव दिया। यह सुझाव उपयुक्त होनेसे गत वर्ष पूज्यश्रीजी के देहली-चातुर्मास में दार्शनिक जगत के लब्धप्रतिष्ठ विद्वान् एवं पाथर्डी बोर्ड की विद्वत्परिषद् के माननीय सदस्य डॉक्टर इन्द्रचन्द्रजी शास्त्री एम्. ए., पी. एच्. डी. का समागम हुआ, उनसे परिशिष्ट के बारेमें बात हुई। आपने उसे बडी प्रसन्नता से स्वीकार किया और कुछ ही दिनों म इस कार्य को सम्पादित कर हमें प्रकाशनार्थ सौंप दिया। इन दिनों पं. भारिल्लजी 'रत्नाकरावतारिका' के हिन्दी अनुवाद में तत्पर होने से डाक्टर इन्द्रचन्द्रजी को हमने कार्यभार जिस भावना से सुपूर्द किया था, डाक्टर सा. ने उस भावना के औचित्य को मान्य कर के कार्य सम्पादन में जो उत्साह दिखाया है, वह सर्वथा स्तुत्य है।

इस प्रकार जैन तर्क भाषा के प्रस्तुत संस्करण को मूल-अनुवाद और परिशिष्टसहित सांगोपांग तैयार कर के विद्वद्भोग्य और छात्रोपयोगी बनाने का प्रयत्न किया गया है। आशा है जिज्ञासुओं की जिज्ञासा को तृप्त करने में यह यत्न अवश्य सहायक सिद्ध होगा।

इस पुस्तक के प्रकाशन कार्य में जिन सद्गृहस्थों के आर्थिक आश्रय का उपयोग किया गया है, उनकी नामावली इस प्रकार है-

५०१ श्री रतनचन्दजी भिकमदासजी बाँठिया, पनवेल
५०१ श्री भैरूलालजी दीपचन्दजी गांधी, लोनावला
५०१ श्री सौ. गुलाबबाई कचरदासजी लोढ़ा, अहमदनगर
५०१ श्री धनराजजी पनालालजी जैन, जालना
५०१ श्री मोतीलालजी रायचन्दजी दूगड़, कुर्ला (बम्बई)
५०० श्री शक्करबाईजी सुराणा, द्रुग (म. प्र)

अन्त में उन सभी महानुभावों का-जिनके श्रम और सहयोग के परिणामस्वरूप हम इस कार्य में सफल हो सके हैं, हृदय से आभार मानते हैं।

मन्त्रीगण,
पुस्तक प्रकाशन विभाग,
श्री तिलोक रत्न स्था. जैन धार्मिक परीक्षा बोर्ड, पाथर्डी, (अहमदनगर)

प्रस्तावना

'जैनतर्कभाषा' तर्कशास्त्र का महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है। इसकी रचना उपाध्याय यशोविजयगणीने १८ वीं शती में की थी। उन्होंने जैन एवं जैनेतर दर्शनों का विधिपूर्वक अध्ययन किया और जैन-दर्शन की बहुत सी समस्याओं का पर्यालोचन करने में अपनी योग्यता का परिचय दिया है। उदाहरणस्वरूप उन्होंने ज्ञानावरण की जो व्याख्या की है वह वेदांत की मूलाविद्या और तूलाविद्या के सिद्धान्त से मिलती है। इसीप्रकार बहुत सी अन्य बातों को भी जैन तर्कशास्त्र में प्रविष्ट किया, जो उनकी मौलिक देन है। अगले पृष्ठों में उनके जीवन तथा इस देन का संक्षिप्त परिचय दिया जायगा।

जीवन-परिचय

यशोविजय के संबंध में अनेक कथाएँ एवं किंवदंतियाँ प्रचलित थीं। किंतु जबसे 'सुजशवेली भास' नामक ग्रंथ उपलब्ध हुआ, इस संबंध में प्रामाणिक जानकारी प्राप्त हो गई है। यह ग्रंथ पुरानी गुजराती में पद्यात्मक है और यशोविजय के समकालीन कांतिविजय गणी की रचना है।

उपाध्यायजी का जन्म कलोल के निकटस्थ 'कनोडुं' नामक ग्राम में हुआ था, जो अब भी विद्यमान है। वहाँ नारायण नामके व्यापारी रहते थे, पत्नी का नाम था–सोभागदे। उनके दो पुत्र थे–जसवंत और पद्मसिंह। एकबार पंडितवर्य मुनिश्री नयविजय पाटण के समीपवर्ती 'कुंणगेर' नामक ग्राम से विहार करते हुए 'कनोडुं' आये। वे अकबरप्रतिबोधक जैनाचार्य श्री हरिविजयसूरि की शिष्यपरंपरासें संबद्ध थे। उपदेश सुनकर दोनों कुमार उनके साथ हो लिए और वि. सं. १६८८ में पाटण पहुँचकर दीक्षा ले ली। उसी वर्ष श्री विजयदेव सूरि ने उन्हें बडी दीक्षा दी। उस समय उनकी आयु क्रमश: १० और १२ वर्ष के लगभग थी। दीक्षा के उपरांत जसवंत का यशोविजय और पद्मसिंह का पद्मविजय नाम हो गया। उपाध्याय यशोविजय ने अपनी कृतियों में पद्मविजय का सहोदर के रूप में स्मरण किया है।

वि. सं. १६९९ में यशोविजय अहमदाबाद पहुँचे और वहाँ आठ अवधान किए। उनकी प्रतिभा से प्रभावित होकर स्थानीय धनजी सूरा नामक व्यापारी ने नयविजयजी से अनुरोध किया कि यशोविजय को काशी भेजकर विद्याध्ययन करना चाहिए। इसके लिए उन्होंने २००० दीनारें खर्च करने का वचन भी दिया और हुंडी लिख दी।

नयविजय यशोविजय को लेकर काशी पहुंचे और वहाँ ३ वर्ष रहे। यशोविजय ने किसी भट्टाचार्य के पास नव्यन्याय का अध्ययन किया। काशी में शास्त्रार्थ भी किया, और विजय के उपलक्ष्य में 'न्यायविशारद' उपाधि प्राप्त की। साधारणतया यह प्रचलित है कि उन्हें 'न्यायाचार्य' पदवी मिली थी। किंतु 'सुजशवेलीभास' में इसका उल्लेख नहीं मिलता।

काशी के पश्चात् उन्होंने ४ वर्ष तक आगरा में अध्ययन किया। इसके पश्चात् अहमदाबाद पहुंचे और वहाँ औरंगजेब के सूबेदार महोबतखाँ के समक्ष १८ अवधान किए। विजयदेवसूरिके शिष्य विजयप्रभसूरिने सं. १७१८ में उन्हें 'वाचक-उपाध्याय' पदवी प्रदान की। सं. १७४३ में बडौदा के निकट 'डमाई' गांव में यशोविजय का स्वर्गवास हुआ, वहाँ उनकी पादुका स्थापित है।

ऊपर बताया जा चुका है कि जैन दार्शनिक साहित्य को उपाध्यायजी की मौलिक एवं अत्यंत महत्त्व-पूर्ण देन है। उन्होंने जो योग्यता प्राप्त की वह साधारणतया अन्य जैन आचार्यों में नहीं मिलती। उन्होंने पूर्वपक्ष के रूप में दूसरे दर्शनों को प्रस्तुत करते समय कहीं खींचतान या तोड-मरोड नहीं की। इससे दो बातों का पता चलता है। पहली बात यह है कि उनका अध्ययन व्यापक एवं वस्तुलक्ष्यी था। इधर-उधर से सुनकर अथवा पारंपरिक आधारों पर किसी बात का खंडन या पर्यालोचन नहीं किया। दूसरी बात यह है कि उनकी दृष्टि सभी के प्रति सहानुभूतिपूर्ण एवं समन्वयात्मक थी जो अनेकांत का मूल तत्त्व है। इस उदार दृष्टि का मुख्य कारण था उनका काशी में जाकर अध्ययन करना और जैनेतर विद्वानों के संपर्क में आना। दूसरी बात यह है कि उन्होंने बहुतसी दार्शनिक समस्याओं का जो समाधान प्रस्तुत किया है, वह पूर्ववर्ती आचार्यों में नहीं मिलता। उसे पढ़कर ज्ञात होता है कि जैन-दर्शन को समझने के लिए अन्य दर्शनों का मौलिक अध्ययन आवश्यक है।

तत्कालीन स्थिति

उस समय राजस्थान, गुजरात तथा पश्चिमी उत्तरप्रदेश पर मुसलमानों का आतंक था। तर्क, एवं दर्शनशास्त्र का पर्यालोचन बंगाल, मिथिला एवं काशी में कुछ विद्वानों के घरों तक सीमित था। अन्यत्र एक ओर साधारण जनता में भक्तिवाद का प्रसार हो रहा था, दूसरी ओर राजघरानों में शृंगार का। राजस्थान एवं गुजरात के जैनसमाज में दो धाराएं थीं। एक ओर मूर्तिपूजक समाज मंदिरों के निर्माण और उसके आडम्बरोंमें लगा था। दूसरी ओर स्थानकवासी समाज निवृत्ति एवं त्याग को अत्यधिक महत्त्व दे रहा था। ज्ञान-साधना की ओर दोनों की उपेक्षा थी। ऐसे युग में यशोविजय का आविर्भाव मरुस्थली में सरोवर के समान सिद्ध हुआ। उन्होंने सभीका ध्यान सांप्रदायिक मतभेद से ऊपर उठाकर ज्ञानसाधना की ओर आकृष्ट किया। तत्त्वजिज्ञासु की सूक्ष्म एवं निष्पक्ष दृष्टि लेकर इस ओर प्रवृत्त हुए और अनेकांत का सच्चा प्रतिनिधित्व किया। आवरण आते ही प्रकाश अंधकार में परिणत हो जाता है। इसी प्रकार सत्य सीमाविशेष में आबद्ध होते ही असत्य बन जाता है। धारणाविशेष को असत्य तभी कहा जाता है जब वह विरोधी दृष्टि का अपलाप करती हैं। विरोधी का स्वागत करने पर वही सत्य का रूप ले लेती है जैन परिभाषा में विरोधी के अपलाप को 'एकांत' कहते हैं और स्वागतको 'अनेकांत'। यशोविजय ने इस दृष्टि को हृदय और बुद्धि दोनों भूमिकाओं पर उपस्थित किया है।

रचनाएं

यशोविजय ने विशाल संख्यक ग्रंथों की रचना की जो एक ओर उनके प्रखर पांडित्य और दूसरी ओर भावुक हृदय को प्रकट करते हैं। उनकी कृतियाँ चार भाषाओं में हैं—संस्कृत, प्राकृत, गुजराती और हिंदी। वे तार्किक थे और कवि भी। उनकी प्रतिभा गद्य और पद्य में समान रूप से प्रकट हुई है।

विषय दृष्टि से उनकी रचनाएं व्यापक एवं सूक्ष्म अध्ययन को प्रगट करती हैं। आगम और तर्क के

अतिरिक्त अन्य विषयों पर भी उनकी रचनाएँ मिलती हैं। उनमें कर्म, नवतत्त्व, आचार आदि विषयक ग्रंथ आगमिक साहित्य में गिने जाएंगे और प्रमाण, प्रमेय, नय आदि विषयों पर जो ग्रंथ हैं वे तर्क साहित्य में, मंगल, मुक्ति, आत्मा, योग आदि विषयों पर जो ग्रंथ हैं, उन्हें साधना-साहित्य में गिना जायगा। व्याकरण, काव्य, छंद अलंकार आदि विषयों पर भी उन्होंने लिखा है।

शैली की दृष्टि से उनकी रचनाएँ खंडन, मंडन और समन्वय तीनों प्रकार की हैं। उनका खंडन सूक्ष्म एवं वस्तुलक्ष्यी है। साधना-साहित्य में जैन एवं जैनेतर दृष्टियों का समन्वय मिलता है, वहाँ भगवद्‌गीता एवं पातंजलयोगदर्शन का जैन दृष्टि के साथ पर्यालोचन किया गया है। उन्होंने दिगंबर आचार्य विद्यानंद-कृत अष्टसहस्त्री पर भी व्याख्या लिखी है। इससे उनकी उदार दृष्टि का परिचय मिलता है।

भारतीय तर्कशास्त्र में दो ग्रंथ युगप्रवर्तक माने जाते हैं। प्रथम श्रीहर्ष का खंडनखंडखाद्य है। इसका संबंध शांकरवेदांत के साथ है। किन्तु उसमें खंडन की जो शैली है, वह इस बात को प्रकट करती है कि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो किसी सिद्धांत की स्थापना नहीं हो सकती। इसी ग्रंथ का सहारा लेकर अद्वैत वेदांत अन्य दर्शनों पर हावी हो गया। वास्तव में देखाजाय तो खंडनखंडखाद्य में जो शैली अपनाई गई है, उसका प्रथम आविष्कार प्रसिद्ध बौद्धाचार्य नागार्जुन ने किया था–जो शून्यवाद के प्रवर्तक माने जाते हैं। उन्होंने इस बात की स्थापना की–'विश्व के संबंध में बाह्य तथा आभ्यंतर, जड तथा चेतन, नित्य तथा अनित्य, सत्य तथा असत्य समस्त बातें कल्पना मात्र हैं।' इसी तथ्य का उन्होंने 'शून्य–शब्द' द्वारा प्रतिपादन किया।

खंडनखंडखाद्य ने भी उन्हीं युक्तियों का आश्रय लिया। उसका प्रभाव सभी दर्शनोंपर पडा औरउस ने यथार्थवादी परंपराओं को दबादिया। यशोविजय ने जैन दृष्टि से खंडनखंडखाद्य की अलोचना की है। १४ वीं शताब्दि में गंगेश नामक मैथिलविद्वान् ने तत्त्वचिंतामणिनामक ग्रंथ रचा। इसके साथ दार्शनिक जगत् में नव्य-न्याय का प्रवेश हुआ। इसने दार्शनिक प्रतिपादन शैली को सर्वथा बदल दिया। उत्तरवर्ती समस्त दार्शनिक साहित्य पर इसकी छाप है। यशोविजय ने जैनदर्शन का प्रतिपादन भी नव्य-न्याय शैली पर किया। इस प्रकार दार्शनिक जगत् को दोनों नवीन धाराओं को जैन-साहित्य में प्रचलित किया। जो उनकी अनुपम देन है।

यशोविजयविरचित ग्रंथों की सूचि।

लभ्यग्रंथ—१) अध्यात्ममतपरीक्षा (स्वोपज्ञटीका) २) अध्यात्मसारः ३) अध्यात्मोपनिषद् ४) अनेकांतव्यवस्था ५) आध्यात्मिकमतदलनम् (स्वोपज्ञटीका) ६) आराधकविराधकचतुर्भंगी (स्वोपज्ञटीका) ७) अष्टसहस्त्रीविवरणम् ८) उपदेशरहस्यम् (स्वोपज्ञटीका) ९) ऐंद्रस्तुतिचतुर्विंशतिका (स्वोपज्ञटीका) १०) कर्मप्रकृतिटीका ११) गुरुतत्त्वविनिश्चयः १२) ज्ञानबिंदु १३) ज्ञानसारः १४ जैनतर्कभाषा १५) देवधर्म–परीक्षा १६) द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका (स्वोपज्ञटीका) १७) धर्मपरीक्षा (स्वोपज्ञटीका) १८) धर्मसंग्रहटिप्पणम् १९) नयप्रदीपः (स्वोपज्ञटीका) २०) नयोपदेशः (स्वोपज्ञनयामृततरंगिणी टीका) २१) नयरहस्यम् २२) निशाभक्तप्रकरणम् २३) न्यायखंडखाद्यम्-वीरस्तवः स्वोपज्ञटीका २४) न्यायालोकः २५) परमात्मपंचविंशतिका २६) परमज्योतिपंचविंशतिका २७) पातंजलयोगदर्शनविवरणम् २८) प्रतिमाशतकम् (स्वोपज्ञटीका) २९) भाषारहस्यम् (स्वोपज्ञटीका) ३०) मार्गपरिशुद्धिः ३१) यतिलक्षणसमुच्चयः ३२) योगविंशिकाटीका ३३) वैराग्यकल्पलता ३४) योगदीपिका (षोडशकवृत्तिः) ३५) सामाचारीप्रकरणम् (स्वोपज्ञटीका) ३६) स्याद्वादकल्पलता (शास्त्रावार्तासमुच्चयटीका) ३७) स्तोत्रावलिः ३८) संखेश्वरपार्श्वनाथस्तोत्रम् ३९) समीकापार्श्वनाथस्तोत्रम् ४०) आदिजिनस्तवनम्, विजयप्रभसूरिस्वाध्यायः गोडीपार्श्वनाथस्तोत्रादिः, द्रव्यपर्याययुक्तिः इत्यादि

अपूर्णलभ्यग्रंथ — १) अस्पृशद्गतिवादः २) उत्पादव्ययध्रौव्यसिद्धिटीका ३) कर्मप्रकृतिलघुवृत्तिः ४) कूपदृष्टांतविशदीकरणम् ५) ज्ञानार्णवःसटीकः ६) तिङन्तान्वयोक्तिः ७) तत्त्वार्थटीका

अलभ्यग्रंथ—१) अध्यात्मोपदेशः २) अलंकारचूडामणिटीका ३) अनेकांतप्रवेशः ४) आत्मख्यातिः ५) आकरग्रंथाः (?) ६) काव्यप्रकाशटीका ७) ज्ञानसारावचूर्णिः ८) छंदश्चूडामणिः ९) तत्त्वालोकस्वोपज्ञ-विवरणम् १०) त्रिसूत्र्यालोकः ११) द्रव्यालोकस्वोपज्ञविवरणम् १२) न्यायबिंदुः १३) प्रमाणरहस्यम् १४) मंगलवादः १५) लताद्वयम् १६) वादमाला १७) वादार्णवः १८) वादरहस्यम् १९) विधिवादः २०) वेदांतनिर्णयः २१) शठप्रकरणम् २२) सिद्धांततर्कपरिष्कारः २३) सिद्धांतमंजरीटीका २४) स्याद्वादरहस्यम् २५) स्याद्वादमञ्जूषा (स्याद्वादमंजरीटीका)

तर्कभाषा का संक्षिप्त परिचय

नामकरण

तर्कशास्त्र का प्राचीन नाम आन्वीक्षिकी है इसका अर्थ है—वह विद्या जो प्रस्तावित वस्तु का अनु-ईक्षण अर्थात् पर्यालोचन करती है। उपनिषदों में इसके लिए मनन शब्द का प्रयोग होता था। वहाँ आत्मसाक्षात्कार की तीन श्रेणियाँ बताई गई हैं। प्रथम श्रवण है, जिसका अर्थ है—शास्त्र या दूसरे की बात को अच्छी तरह सुनना और समझना ; इस श्रेणी में इसी बात पर ध्यान रखा जाता है कि दूसरा क्या कह रहा है। उसके सत्यासत्य अथवा औचित्यानौचित्य पर ध्यान नहीं दिया जाता। दूसरी श्रेणी मनन है। इसका अर्थ है—सुनी हुई बात पर तर्कसंगत विचार। इसमें व्यक्ति अपनी बुद्धि का उपयोग करता है । तृतीयश्रेणी निदिध्यासन है। इसका अर्थ है—जब कोई बात परीक्षणकी कसौटी पर खरी उतरे तो उसे जीवनमें उतारनेका प्रयत्न।

तर्कशास्त्र को हेतु विद्या भी कहा जाता था। किंतु आध्यात्मिक परंपराएँ इसे आदर नहीं देती थीं। उनकी यह मान्यता रही है कि आत्मा आदि अतींद्रिय तत्त्वों का वास्तविक ज्ञान शास्त्र के द्वारा ही हो सकता है। मानव की साधारण बुद्धि उन तक नहीं पहुँचती। अतः तर्क या हेतु को वहीं तक प्रश्रय देना चाहिए, जहाँ तक वह शास्त्र का समर्थक है। शास्त्र के विपरीत चलने पर वह उपादेय के स्थान पर हेय हो जाता है। भारतीय प्रमाण शास्त्र में आगम अर्थात् शास्त्रीय बातों का महत्त्वपूर्ण स्थान है ।

ई. पू. द्वितीय शताब्दि में नागार्जुन नामके प्रसिद्ध बौद्ध—आचार्य हुए। उन्होंने स्वतंत्र युक्तिवाद के आधार पर शून्यवाद का समर्थन किया। शास्त्रार्थ एवं बौद्धिकचर्चा में सहायक होने पर भी उनका युक्तिवाद जीवन का अंग न बन सका। बौद्ध धर्म में ही उसकी प्रबल प्रतिक्रिया हुई। जिसके फलस्वरूप भक्तिवाद और योगाचार परंपरा का विकास हुआ। बादरायण का कथन है कि तर्क कहीं प्रतिष्ठित नहीं होता। उनके 'तर्काप्रतिष्ठानात्' (ब्रह्मसूत्र २.२ ...) सूत्र की व्याख्या करते हुए शंकराचार्य ने लिखा है कि एक तार्किक आज जिस बात को सिद्ध करता है कल दूसरा उसका खंडन कर डालता है। तर्क के आधार पर किसी वस्तु को तभी स्वीकार किया जा सकता है, जब भूत, वर्तमान और भविष्यत् तीनों कालों के तार्किक इकट्ठे होकर निर्णय दें, किंतु यह संभव नहीं है। अतः साधक के लिए एकमात्र शास्त्र का सहारा है।

तर्कशास्त्र का सर्वप्रथम सूत्रग्रंथ महर्षि गौतम का 'न्यायसूत्र' है। अष्टम शताब्दि में जयन्तभट्टने न्याय-मञ्जरी नामक ग्रंथ की रचना की। जैन—आचार्यों ने न्याय की परिभाषा में कहा है—'प्रमाणनयैरर्थपरीक्षणं न्यायः' अर्थात् प्रमाण और नय के द्वारा किसी वस्तु की परीक्षा करना न्याय है। बौद्ध आचार्य धर्मकीर्ति ने अपने तर्कशास्त्रसंबंधी सूत्रग्रंथ का नाम 'न्यायबिंदु' रखा। इससे ज्ञात होता है कि उस समय तर्कशास्त्र के लिए न्यायशब्द प्रचलित था।

चौथा 'शब्द-प्रमाण' है। सर्वप्रथम इसका प्रयोग बौद्ध-आचार्य दिङ्नाग (४०० ई.) के ग्रंथों में मिलता है। धर्मकीर्ति ने इसी नाम को लेकर प्रमाणवार्तिकनामक प्रसिद्ध ग्रंथ की रचना की। जैन एवं वैदिक परंपराओं में भी इस नाम का प्रयोग मिलता है।

आन्वीक्षिकी से लेकर अब तक जिन नामों का निर्देश किया गया है उनका संबंध ज्ञान या परीक्षण के उपाय के साथ है। ज्ञेय को लेकर भी कुछ नाम मिलते हैं। इसका प्रारंभ वैशेषिक-सूत्र से होता है, जिसका दूसरा नाम पदार्थ-धर्म-संग्रह है। इसी आधार को लेकर प्रमेयरत्नावली, प्रमेयकमलमार्त्तण्ड, प्रमेयरत्नमाला आदि नाम मिलते हैं।

जैन परंपरा में और भी कुछ नाम मिलते हैं। प्रथम है परीक्षा शब्द को लेकर, जैसे परीक्षामुख। द्वितीय नाम है स्याद्वाद को लेकर जैसे स्याद्वादरत्नाकर, स्यादवादमञ्जरी इत्यादि। स्याद्वाद जैनदर्शन की आधारशिला है। कुछ नाम अनेकांत को लेकर भी मिलते हैं, जैसे अनेकांतजयपताका इत्यादि। अनेकांत जैनतर्कशास्त्र की आधारशिला है। विमलदास का सप्तभङ्गीतरङ्गिणीनामक ग्रंथ सप्तभङ्गी की व्याख्या के रूप में है।

जहाँ तक तर्कशब्द का प्रश्न है जैनपरंपरा में सर्वप्रथम इसका प्रयोग सिद्धसेन ने अपने 'सन्मतितर्कप्रकरण' में किया। १२ वीं शताब्दि में बौद्ध आचार्य मोक्षाकर ने तर्कभाषा नामक ग्रंथ की रचना की, जो बौद्ध तर्कशास्त्र का प्रारंभिक ग्रंथ है। १४ वीं शताब्दि में केशवमिश्र ने न्यायदर्शन को लेकर इसी नाम का ग्रंथ रचा। उसके पश्चात् अन्नंभट्ट ने 'तर्कसंग्रह' की रचना की। संभवतया यशोविजय ने भी इन्हीं से प्रेरणा प्राप्त करके अपने ग्रंथ का नाम 'जैनतर्कभाषा' रखा। उन्होंने अपनी साहित्य-साधना में जिन ग्रंथभांडारों का उपयोग किया था, उनमें भी उपर्युक्त 'तर्कभाषा' नामक ग्रंथों की हस्तलिखित प्रतियाँ मिली हैं, इससे भी प्रस्तुत धारणा की पुष्टि होती है।

'तर्क' शब्द का अर्थ—

जैन आचार्यों ने तर्क की व्याख्या व्याप्तिज्ञान के रूप में की है। व्याप्ति का अर्थ है हेतु और साध्य का परस्पर संबंध। जहाँ-जहाँ धुआँ है, अग्नि अवश्य होगी। धुआँ व्याप्य है और अग्नि व्यापक। फलस्वरूप जहां धूंए का अस्तित्व है, वहाँ अग्नि का अस्तित्व अवश्य होगा। इसी 'संबंध' को व्याप्ति कहा जाता है और इसके ज्ञान को तर्क। जबतक यह ज्ञान नहीं होता, अनुमान नहीं किया जा सकता। अतः तर्क अनुमान का जीवन है। न्यायदर्शन में इसे स्वतंत्र प्रमाण नहीं माना गया, किंतु इतने मात्र से उसका महत्त्व कम नहीं होता। वहाँ भी इसे अनुमान का आधार माना गया है। न्यायदर्शन तर्क को नीचे लिखे अनुसार उपस्थित करता है—

"यदि धूमो वह्निव्याप्यो न स्यात्, वह्निजन्यो न स्यात्" अर्थात् यदि धुआँ अग्नि का कार्य है तो उसे अग्नि का व्याप्य भी मानना होगा। व्याप्यता के बिना कार्यता की संभावना नहीं हो सकती। इस प्रकार हम देखते हैं कि तर्क अनुमान की आधारशिला है और अनुमान प्रमाणशास्त्र की। आगम एवं प्रत्यक्ष का प्रामाण्य भी अनुमान के आधार पर सिद्ध किया जाता है। इसीलिए 'तर्क' शब्द को इतना महत्त्व प्राप्त हो गया।

रचनाशैली–

मोक्षाकर ने अपने तर्कभाषा को तीन परिच्छेदों में विभक्त किया है। प्रस्तुत ग्रंथ भी 'प्रमाण, नय और निक्षेप' नामक तीन परिच्छेदों में विभक्त है। यह विभाजन भट्टारक अकलंक के लघीयस्त्रयनामक ग्रंथ का स्मरण दिलाता है। वह भी इसी प्रकार तीन प्रवेशों में विभक्त है। अकलंक को जैन तर्कशास्त्र का संस्थापक माना जाता है। यशोविजय ने उसके ग्रंथों का पर्यालोचन ही नहीं किया, किंतु 'अष्टसहस्त्री-विवरण' नामक ग्रंथ भी रचा, जो अकलंककृत अष्टशती की टीका अष्टसहस्त्री का पर्यालोचन है। इससे सहज अनुमान हो सकता है कि यशोविजय के मन में अकलंक के प्रति कितनी श्रद्धा थी? लघीयस्त्रय के अतिरिक्त जैनतर्कविषयक कोई ग्रंथ नहीं है, जिसका विषय-विभाजन प्रमाण, नय और निक्षेप के रूप में मिलता हो। लघीयस्त्रय की बहुत-सी पंक्तियाँ भी जैनतर्कभाषा में ज्यों की त्यों मिलती हैं। इन सब आधारों पर कहा जा सकता है कि वही इस ग्रंथ-रचना की प्रेरणा का स्रोत है।

प्राक्तन–कृतियों का प्रभाव–

'जैन-तर्कभाषा' पर नीचे लिखी रचनाओं का प्रभाव स्पष्ट जान पडता है।

१) विशेषावश्यक भाष्य—यह विशालकाय ग्रंथ आवश्यकसूत्र की टीका है, जिसे आठसौ ई. में जिन-भद्रगणि क्षमाश्रमण ने रचा। अष्टमशताब्दि तक आगमिक साहित्य का जो विकास हुआ, प्रस्तुत ग्रंथ में उसका विस्तृत प्रतिपादन मिलता है। आगमिक विषयों से संबद्ध उत्तरवर्ती समस्त रचनाएँ इसके प्रभाव को प्रकट करती हैं। विशेषावश्यक भाष्य में पाँच ज्ञान, नय और निक्षेपों का विस्तृत प्रतिपादन है।

२) प्रमाणनयतत्त्वालोक—इसे ११ वीं शताब्दि में प्रसिद्ध श्वेतांबर आचार्य वादिदेवसूरि ने रचा, जो श्वेतांबर परंपरा में प्रमाण-विषयक प्रथम सूत्रग्रंथ है। इस पर उन्हीं की 'स्याद्वादरत्नाकर' नामक विशाल टीका है जिसे जैनतर्कशास्त्र का आकर ग्रंथ कहा जायगा।

३) कुसुमांजलि—यह प्रसिद्ध नैयायिक उदयन की रचना है। ईश्वरकर्तृत्व आदि जिन विषयों को लेकर वैदिक एवं अवैदिक परंपराओं में मुख्य भेद हैं–कुसुमांजलि में उनका विवेचन मिलता है।

४) चिंतामणि—यह नव्यन्याय का प्रथम ग्रंथ है, जिसे १४ वीं शताब्दि में गंगेश ने रचा। इसके साथ दार्शनिक जगत् में नयेयुग का प्रवेश हुआ।

५) न्यायदीपिका—यह दिगंबर आचार्य धर्मराज की संक्षिप्त रचना है। जो जैनदर्शन में प्रवेश करने वालों के लिए अत्यंत उपयोगी है। प्रतिपादनशैली प्रांजल एवं सारगर्भित है।

६) लघीयस्त्रय—इसका निर्देश ऊपर आचुका है।

७) तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक—यह तत्त्वार्थसूत्रपर विद्यानंद की विस्तृत टीका है।

जैन तर्कभाषा में पाँच ज्ञान और चार निक्षेपों का जो वर्णन है, उसका आधार विशेषावश्यक भाष्य है। दूसरी ओर प्रमाण और नयों का प्रतिपादन स्याद्वादरत्नाकर के आधार पर है। जैन-तर्कभाषा की मुख्य विशेषता यह है कि इसमें आगमिक एवं तार्किक दोनों परंपराओं का सुन्दर समन्वय मिलता है। संक्षिप्त होने पर भी यशोविजय ने किसी तथ्य को अस्पष्ट नहीं रहने दिया।

जहाँ तक प्रमाण और नय का प्रश्न है दिगंबर तथा श्वेतांबर परंपराओं में भेद नहीं है । किंतु निक्षेप की चर्चा दोनों में एक सी नहीं है। अकलंककृत लघीयस्त्रय तथा उसकी टीका न्यायकुमुदचंद्र में निक्षेपों की चर्चा है, विशेषावश्यक भाष्य की चर्चा उससे भिन्न है । यशोविजय ने इसी का अनुसरण किया है ।

अब हम जैन-तर्कभाषा में प्रतिपादित विषयों का संक्षिप्त दिग्दर्शन कराएंगे ।

विषय–परिचय

तर्कशास्त्र का मुख्य विषय प्रमाण माना जाता है । ज्ञान कैसे होता है, उसे सम्यक् या मिथ्या किन आधारों पर निश्चत किया जाता है, दोनों के कितने प्रकार हैं इत्यादि विषय इसके अंतर्गत हैं । शास्त्रार्थ-युग में प्रत्यक्ष की अपेक्षा अनुमान को अधिक महत्त्व मिल गया और हेतु-विद्या तर्कशास्त्र का मुख्य विषय बन गई । जैन दर्शन में भी इन सब बातों की चर्चा की है ।

इनके अतिरिक्त कुछ बातें उसकी मौलिक देन हैं । उसने तर्कशास्त्र का विभाजन दो क्षेत्रों में किया है । प्रथम क्षेत्र ज्ञान का है, जहाँ हम यह जानना चाहते हैं कि वस्तु अपने आप में कैसी है । इसमें भी सापेक्षता बनी रहती है । उदाहरण के रूप में चंद्रमा बहुत बडा होने पर भी छोटा-सा दिखाई देता है । न्याय वेदांत आदि दर्शन इसे भ्रम मानते हैं । जैन दर्शन का कथन है कि यदि दूरी आदि अपेक्षाओं को ध्यान में रखा जाय तो यह ज्ञान भ्रम नहीं है । परिस्थिति–विशेष में वह प्रतीति ऐसी ही होगी । इन्हीं अपेक्षाओं को द्रव्य, क्षेत्र, काल तथा भाव के रूप में प्रकट किया जाता है । हमारे कुछ निर्णय स्वार्थ को लक्ष्य में रखते हैं, जैसे शत्रु–मित्र आदि । कुछ स्व को, जैसे एक ही व्यक्ति का पिता, पुत्र, भाई आदि होना । न्यायदर्शन ज्ञान को वस्तुलक्ष्यी मानता है । दूसरी ओर अद्वैतवादी परंपराएँ आत्मलक्ष्यी कहाती हैं। उनका कथन है कि बाह्य वस्तुएँ केवल हमारी कल्पना हैं । जैनदर्शन का कथन है कि प्रत्येक ज्ञान में स्व और पर दोनों तत्त्व मिले रहते हैं । किसी की उपेक्षा करने पर उसमें प्रामाण्य नहीं रहता ।

जैन-तर्कशास्त्र का द्वितीय प्रतिपाद्य 'नय' है जो उसकी मौलिक देन है । इसका मुख्य संबंध व्यवहार के साथ है । हम एक ही वस्तु को स्वार्थ के आधार पर विभिन्न दृष्टियों से देखते हैं । एक ही व्यक्ति को मनुष्य, ब्राह्मण, देवदत्त, अध्यापक आदि शब्दों द्वारा प्रकट किया जाता है । इस चुनाव का आधार तात्का–लिक स्वार्थ होता है । प्राणिशास्त्र में उसे मनुष्य कहा जायगा, जनगणना के समय पुरुष, जाति-गणना के समय ब्राह्मण और व्यवसाय-गणना के समय अध्यापक । ये सभी व्याख्याएं अपनी–अपनी अपेक्षा से सत्य हैं । काव्यशास्त्र में शब्दकी अभिधा के अतिरिक्त लक्षणा एवं व्यंजना नामक शक्तियों को भी माना गया है । हम कहते हैं कि अमुक व्यक्ति बैल है । यह उक्ति असत्य नहीं है । यहाँ बैल का अर्थ है–बुद्धि–हीन या मूर्ख । जैनदर्शन इन उक्तियों को नैगमनय में अंतर्भूत करता है, इसी प्रकार सामान्यग्राही तथा विशेषग्राही समस्त दृष्टियों का विभाजन नयों के रूप में किया गया है।

तीसरा तत्त्व 'निक्षेप' है । नय न्यूनाधिक मात्रा में अर्थ की अपेक्षा रखता है, किंतु बहुत से स्थान ऐसे भी होते हैं, जहाँ व्यवहार के साथ अर्थ का कोई संबंध नहीं होता । उदाहरण के रूप में हम ऐसे व्यक्ति का नाम वाचस्पति रख देते हैं, जो सर्वथा मूर्ख है । यहाँ यह प्रश्न होता है कि क्या उसे वाचस्पति कहना असत्य भाषण है । पत्थर की मूर्ति को दुर्गा, सरस्वती, विष्णु आदि देवी-देवताओं के नाम से पुकारा जाता है।

शतरंज के मोहरों को हाथी, घोड़ा, मंत्री आदि कहा जाता है। इसके लिए जैनदर्शन निक्षेप का सिद्धांत उपस्थित करता है। यह शब्द क्षिप् धातु से बना है, जिसका अर्थ फेंकना है। अर्थ आदि का पर्यालोचन किए बिना शब्द को वस्तु पर फेंकना 'निक्षेप' है। नय में व्यवहार की प्रधानता होती है, वह न्यूनाधिक मात्रा में अर्थलक्ष्यी होता है, किंतु निक्षेप में अर्थ का ध्यान नहीं रहता। तृतीय द्रव्यनिक्षेप भूत अथवा भावी अवस्थाओं को लेकर चलता है और चतुर्थ भावनिक्षेप वास्तविकता को। निक्षेप का सिद्धांत भी जैनदर्शन की मौलिक देन है। आगम साहित्य में व्याख्या की परिपाटी में इन्हीं निक्षेपों का आश्रय लिया जाता है। उदाहरण के रूप में ज्ञान का प्रतिपादन करते समय पहले नाम, स्थापना और द्रव्य के रूप में इसका विवेचन किया जायगा और इसके पश्चात् भावज्ञान के रूप में असली वस्तु का।

यशोविजय से पहले आचार्यों ने मुख्यतया ज्ञान एवं प्रमाण का विवेचन किया है। किसी–किसी ने नय पर भी लिखा है, किंतु निक्षेप को तर्कशास्त्र में सम्मिलित करना यशोविजय की मौलिक देन है।

इन्द्रचंद्र शास्त्री

— महामहोपाध्यायश्रीयशोविजयगणिकृता—

॥ जैन तर्क भाषा ॥

(हिन्दी-अनुवाद-सहिता)

१. प्रमाणपरिच्छेदः ।

ऐन्द्रवृन्दनतं नत्वा जिनं तत्त्वार्थदेशिनम् ।
प्रमाणनयनिक्षेपैस्तर्कभाषां तनोम्यहम् ॥

(प्रमाणसामान्यस्य लक्षणनिरूपणम् ।)

१ तत्र–स्वपरव्यवसायि ज्ञानं प्रमाणम्–स्वम् आत्मा ज्ञानस्यैव स्वरूपमित्यर्थः, परः तस्मादन्योऽर्थ इति यावत्, तौ व्यवस्यति यथास्थिततत्वेन निश्चिनोतीत्येवंशीलं स्वपरव्यवसायि । २ अत्र दर्शनेऽतिव्याप्तिवारणाय ज्ञानपदम् । संशयविपर्ययानध्यवसायेषु तद्वारणाय व्यवसायिपदम् । परोक्षबुद्ध्यादिवादिनां मीमांसकादीनाम्, बाह्यार्थापलापिनां ज्ञानाद्यद्वैतवादिनां च मतनिरासाय स्वपरेति स्वरूपविशेषणार्थमुक्तम् ।

॥ॐ नमः सिद्धेभ्यः ॥

मंगलाचरण–इन्द्रोंके समूह द्वारा जिन्हें नमस्कार किया गया है और जो तत्त्वार्थका उपदेश करनेवाले हैं, उन जिनेन्द्र भगवान्को नमस्कार करके प्रमाण, नय और निक्षेपका वर्णन करनेवाले 'तर्कभाषा' नामक ग्रन्थकी मैं रचना करता हूँ ।

प्रमाणका स्वरूप

१ 'स्वपरव्यवसायिज्ञानं प्रमाणम्' अर्थात् स्व और परको निश्चयात्मक रूपसे जाननेवाला ज्ञान प्रमाण कहलाता है । यहाँ 'स्व' का अर्थ है आत्मा अर्थात् ज्ञानका ही स्वरूप और 'पर' का अर्थ है ज्ञानसे भिन्न पदार्थ । तात्पर्य यह है कि जो ज्ञान अपने स्वरूपको और दूसरे घट-पट आदि पदार्थोंको सम्यक् प्रकारसे-निश्चित रूपसे जानता है, वही प्रमाण कहलाता है ।

२ प्रमाणके लक्षणमें 'ज्ञान' पदका समावेश इसलिए किया गया है कि दर्शनमें अतिव्याप्ति

१ ननु यद्येवं सम्यग्ज्ञानमेव प्रमाणमिष्यते तदा किमन्यत् तत्फलं वाच्यमिति चेत्; सत्यम्; स्वार्थव्यवसितेरेव तत्फलत्वात् ।

२ नन्वेवं प्रमाणे स्वपरव्यवसायित्वं न स्यात्, प्रमाणस्य परव्यवसायित्वात् फलस्य च स्वव्यवसायित्वादिति चेत्; न; प्रमाण-फलयोः कथञ्चिदभेदेन तदुपपत्तेः ।

३ इत्थं चात्मव्यापाररूपमुपयोगेन्द्रियमेव प्रमाणमिति स्थितम्; नह्यव्यापृत आत्मा स्पर्शादिप्रकाशको भवति, निर्व्यापारेण कारकेण क्रियाजननायोगात्, मसृणतूलिकादिसन्निकर्षेण सुषुप्तस्यापि तत्प्रसंगाच्च ।

न हो जाय। संशय, विपर्यय और अनध्यवसायमें अतिव्याप्ति निवारण करनेके लिए 'व्यवसायि' पद दिया गया है । ज्ञानको एकान्त परोक्ष माननेवाले मीमांसकोंके मतका निरास करनेके लिए तथा ज्ञानान्तरसे ज्ञानका प्रत्यक्ष माननेवाले यौगमतका निषेध करनेके लिए 'स्व' शब्द दिया गया है और ज्ञानाद्वैत, ब्रह्माद्वैत आदि अद्वैतवादी मतोंका निषेध करनेके लिए 'पर' शब्दका प्रयोग किया गया है; अर्थात् 'स्व' शब्दका प्रयोग करके यह दिखलाया गया है कि ज्ञान न अज्ञात रहता है और न उसे ज्ञात करनेके लिए दूसरे ज्ञानकी आवश्यकता ही होती है । ज्ञान अपने आपको आप ही जान लेता है । इसी प्रकार 'पर' शब्द प्रयुक्त करके यह बतलाया गया है कि जगत्में एक मात्र ज्ञान या ब्रह्म तत्त्व ही नहीं हैं, किन्तु उनसे भिन्न घट-पट आदि पदार्थ भी हैं और प्रमाणभूत ज्ञान वही है जो पर-पदार्थोंको भी पदार्थ रूपमें जानता है ।

१ शंका–यदि सम्यग्ज्ञानको ही प्रमाण मान लिया जाय तो प्रमाणका फल क्या होगा ?

समाधान– ठीक है, किन्तु स्व और परका व्यवसाय ही प्रमाणका फल है ।

२ स्व–परव्यवसायको प्रमाणका फल माननेपर प्रमाण स्व–परव्यवसायी न ठहरेगा । क्यों कि प्रमाण सिर्फ परव्यवसायी होगा और प्रमाणका फल स्व–व्यवसायी । ऐसा समझना भी उचित नहीं है; क्यों कि प्रमाण और फलमें कथंचित् अभेद होनेसे प्रमाणमें स्व–परव्यवसाय घटित हो जाता है ।

३ इससे सिद्ध हुआ कि आत्मव्यापाररूप उपयोग–इन्द्रिय ही प्रमाण है । आत्मा जब तक उपयोग–व्यापारसे युक्त न हो तब तक स्पर्श आदि विषयोंका प्रकाशक नहीं हो सकता। व्यापारसे रहित कारक (करण) क्रियाको उत्पन्न नहीं कर सकता । उपयोग (व्यापार) के विना ज्ञप्ति संभव होती तो सुषुप्त पुरुषको नरम–नरम रूई आदिके सन्निकर्ष मात्रसे ज्ञप्ति हो जाती । किन्तु ऐसा कहीं देखा नहीं जाता, अतः उपयोग–इन्द्रिय ही प्रमाण है ।

१ केचित्तु– "ततोऽर्थग्रहणाकारा शक्तिर्ज्ञानमिहात्मनः ।
करणत्वेन निर्दिष्टा न विरुद्धा कथंचन ॥" (तत्त्वार्थश्लोकवा० १.१.२२)

इति–लब्धीन्द्रियमेवार्थग्रहणशक्तिलक्षणं प्रमाणं सङ्गिरन्ते; तदपेशलम्; उपयोगात्मना करणेन लब्धेः फले व्यवधानात्, शक्तीनां परोक्षत्वाभ्युपगमेन करण-फलज्ञानयोः परोक्षप्रत्यक्षत्वाभ्युपगमे प्राभाकरमतप्रवेशाच्च । अथ ज्ञानशक्तिरप्यात्मनि स्वाश्रये परिच्छिन्ने द्रव्यार्थतः प्रत्यक्षेति न दोष इति चेत्; न; द्रव्यद्वारा प्रत्यक्षत्वेन सुखादिवत् स्वसंविदितत्वाव्यवस्थितेः, 'ज्ञानेन घटं जानामि' इति करणोल्लेखानुपपत्तेश्च; न हि कलशसमाकलनवेलायां द्रव्यार्थतः प्रत्यक्षाणामपि कुशूलकपालादीनामुल्लेखोऽस्तीति ।

---

१ कोई-कोई आचार्य कहते हैं-कि "पदार्थोंको ग्रहण करनेवाली आत्माकी शक्ति करण है । उसे कथंचित् करण (प्रमाण) मानने में कोई बाधा नहीं है ।" ऐसा कहनेवाले पदार्थको ग्रहण करनेकी शक्तिरूप लब्धि–इन्द्रियको प्रमाण कहते हैं । किन्तु यह ठीक नहीं है, क्योंकि लब्धिके फलमें उपयोगरूप करणसे व्यवधान पड़ जाता है । अर्थात् लब्धि–इन्द्रिय ज्ञप्तिमें साक्षात् करण नहीं है । क्यों कि लब्धि होनेपर भी उपयोगके विना ज्ञप्ति नहीं होती । और जो ज्ञप्तिमें साक्षात् करण न हो उसे प्रमाण नहीं कहा जा सकता ।

शक्तियाँ परोक्ष मानी गई हैं । अतः यदि शक्तिरूप करणज्ञानको परोक्ष और फलज्ञान को प्रत्यक्ष मानेंगे तो प्राभाकर मतका प्रवेश हो जायगा । कदाचित् यह कहा जाय कि शक्तिके आधारभूत आत्माका प्रत्यक्ष हो जानेपर द्रव्यतः ज्ञानशक्तिका भी प्रत्यक्ष हो जाता है; तो यह कहना भी योग्य नहीं है । द्रव्यतः प्रत्यक्ष हो जाने पर भी सुख आदिकी तरह ज्ञान स्वसंवेदी नहीं हो सकता । सुखके आधारभूत आत्माका प्रत्यक्ष होनेपर जैसे सुख आदिका द्रव्यतः प्रत्यक्ष हो जाता है, फिर भी सुख स्वसंवेदी नहीं होता, वैसे ही ज्ञान भी स्वसंवेदी नहीं हो सकेगा ।

इसके अतिरिक्त ज्ञानशक्तिको यदि द्रव्यतः प्रत्यक्ष होनेके कारण स्वसंविदित माना जाय तो 'मैं ज्ञानके द्वारा घटको जानता हूँ' इस स्थलपर ज्ञानका उल्लेख (प्रत्यक्ष) नहीं होना चाहिए; जैसे कि घटका प्रत्यक्ष होते समय द्रव्यसे प्रत्यक्ष होनेवाले कुशूल, कपाल-आदि पर्यायोंका उल्लेख नहीं होता ।

अभिप्राय यह है कि यदि उपयोगेन्द्रिय (ज्ञान व्यापार) के बदले लब्धीन्द्रिय (ज्ञानशक्ति) को प्रमाण माना जायगा तो प्रमाणका प्रत्यक्ष नहीं हो सकेगा; क्यों कि शक्ति परोक्ष मानी जाती है । कदाचित् यह कहा जाय कि ज्ञानशक्तिके आश्रयभूत आत्माका प्रत्यक्ष होनेसे ज्ञानशक्ति का भी प्रत्यक्ष मान लिया जाता है; तो इस प्रकार से प्रत्यक्ष होनेपर ज्ञानका उल्लेख नहीं हो सकता; ठीक उसी प्रकार जैसे घटका प्रत्यक्ष होनेपर द्रव्यतः कुशूल, कपाल आदि पर्यायोंका भी प्रत्यक्ष तो होता है, किन्तु घट–ज्ञानमें उनका उल्लेख नहीं होता ।

(प्रत्यक्षं लक्षयित्वा सांव्यवहारिक-पारमार्थिकत्वाभ्यां तद्विभजनम् ।)

१ तद् द्विभेदम्–प्रत्यक्षम्, परोक्षं च । अक्षम्-इन्द्रियं प्रतिगतम्-कार्यत्वेनाश्रितं प्रत्यक्षम्, अथवाऽश्नुते ज्ञानात्मना सर्वार्थान् व्याप्नोतीत्यौणादिकनिपातनात् अक्षो जीवः, तं प्रतिगतं प्रत्यक्षम् । न चैवमवध्यादौ मत्यादौ च प्रत्यक्षव्यपदेशो न स्यादिति वाच्यम्; यतो व्युत्पत्तिनिमित्तमेवैतत्, प्रवृत्तिनिमित्तं तु एकार्थसमवायिनाऽनेनो-पलक्षितं स्पष्टतावत्त्वमिति । स्पष्टता चानुमानादिभ्योऽतिरेकेण विशेषप्रकाशनमित्य-दोषः । अक्षेभ्योऽक्षाद्वा परतो वर्तत इति परोक्षम्, अस्पष्टं ज्ञानमित्यर्थः ।

२. प्रत्यक्षं द्विविधम्–सांव्यवहारिकम्, पारमार्थिकं चेति । समीचीनो बाधा-रहितो व्यवहारः प्रवृत्तिनिवृत्तिलोकाभिलापलक्षणः संव्यवहारः, तत्प्रयोजनकं सांव्य-वहारिकम्-अपारमार्थिकमित्यर्थः, यथा अस्मदादिप्रत्यक्षम् । तद्धीन्द्रियानिन्द्रियव्यव-हितात्मव्यापारसम्पाद्यत्वात्परमार्थतः परोक्षमेव, धूमात् अग्निज्ञानवद् व्यवधानावि-शेषात् । किञ्च, असिद्धानैकान्तिकविरुद्धानुमानाभासवत् संशयविपर्ययानध्यवसायसम्भ-वात्, सदनुमानवत् संकेतस्मरणादिपूर्वकनिश्चयसम्भवाच्च परमार्थतः परोक्षमेवैतत् ।

प्रत्यक्ष प्रमाणका लक्षण

१ प्रमाणके दो भेद हैं–(१) प्रत्यक्ष और (२) परोक्ष । अक्षके दो अर्थ हैं–इन्द्रिय और आत्मा । अतएव जो ज्ञान अक्षपर आश्रित हो, इन्द्रियके द्वारा या आत्माके द्वारा हो, वह प्रत्यक्ष कहलाता है ।

शंका–यदि इन्द्रियाश्रित ज्ञानको प्रत्यक्ष माना जाय तो अवधिज्ञान आदि प्रत्यक्ष नहीं कहला सकेंगे, क्योंकि वे इन्द्रियाश्रित नहीं हैं । और यदि आत्माश्रित ज्ञानको प्रत्यक्ष माना जाय तो मतिज्ञान प्रत्यक्ष नहीं ठहरेगा; क्योंकि वह आत्माश्रित नहीं, इन्द्रियाश्रित है ।

समाधान–'जो ज्ञान अक्षपर आश्रित हो वह प्रत्यक्ष है, यह कथन सिर्फ व्युत्पत्तिनिमित्तक है । प्रत्यक्षका प्रवृत्तिनिमित्त 'स्पष्टता' है । अर्थात् जिस ज्ञानमें स्पष्टता हो वही वास्तवमें प्रत्यक्ष है । अनुमान आदिमें प्रकाशित होनेवाले विशेषोंकी अपेक्षा अधिक विशेषोंका प्रकाशन होना स्पष्टता कहलाता है ।

अक्षोंसे या अक्षसे पर जो ज्ञान है वह परोक्ष है. अर्थात् जो ज्ञान अस्पष्ट हो उसे परोक्ष कहते हैं ।

प्रत्यक्षके भेद

२ प्रत्यक्ष दो प्रकारका है–(१) सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष और (२) पारमार्थिक प्रत्यक्ष । बाधा-रहित प्रवृत्ति-निवृत्ति और लोगोंका बोलचालरूप व्यवहार संव्यवहार कहलाता है । इस संव्यवहारके लिए जो प्रत्यक्ष माना जाय वह सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष है । यह अपारमार्थिक प्रत्यक्ष है ।

(सांव्यवहारिकप्रत्यक्षस्य निरूपणम्, मतिश्रुतयोर्विवेकश्च ।)

१ एतच्च द्विविधम्–इन्द्रियजम्, अनिन्द्रियजं च। तत्रेन्द्रियजं चक्षुरादिजनितम्, अनिन्द्रियजं च मनोजन्म। यद्यपीन्द्रियजज्ञानेऽपि मनो व्यापिपर्ति; तथापि तत्रेन्द्रियस्यैवासाधारणकारणत्वाददोषः। द्वयमपीदं मतिश्रुतभेदाद् द्विधा। तत्रेन्द्रियमनोनिमित्तं श्रुताननुसारि ज्ञानं मतिज्ञानम्, श्रुतानुसारि च श्रुतज्ञानम्। श्रुतानुसारित्वं च संकेतविषयपरोपदेशं श्रुतग्रन्थं वाऽनुसृत्य वाच्यवाचकभावेन संयोज्य 'घटो घटः' इत्याद्यन्तर्जल्पा (र्जल्पा) कारग्राहित्वम्। २ नन्वेवमवग्रह एव मतिज्ञानं स्यान्नत्वीहादयः, तेषां शब्दोल्लेखसहितत्वेन श्रुतत्वप्रसङ्गादिति चेत्; न; श्रुतनिश्रितानामप्यवग्रहादीनां

क्यों कि हम (छद्मस्थ) लोगोंका प्रत्यक्ष, सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष–इन्द्रिय और मनकी सहायतासे, आत्माके व्यापारसे उत्पन्न होता है. अतः वह अनुमानके समान वास्तवमें परोक्ष ही है।

इन्द्रियजन्य और मनोजन्य ज्ञान वास्तवमें परोक्ष हैं, क्योकि उनमें संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय हो सकते हैं, जैसे असिद्ध विरुद्ध और अनैकान्तिक अनुमान। जैसे शाब्द-ज्ञान संकेत की सहायतासे होता है और अनुमान व्याप्तिके स्मरणसे उत्पन्न होता है, अतएव वे परोक्ष हैं, इसी प्रकार सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष इन्द्रिय और मनसे व्यवहित आत्मव्यापारकी सहायतासे उत्पन्न होता है, अतएव वह भी परोक्ष है।

सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष और मतिश्रुत ज्ञान

१ सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष दो प्रकारका है–(१) इन्द्रियज और (२) अनिन्द्रियज। चक्षु आदि इन्द्रियोंसे उत्पन्न होनेवाला इन्द्रियज कहलाता है और मनोजनितको अनिन्द्रियज कहते हैं।

यहाँ यह बात ध्यान रखने योग्य है कि इन्द्रियजनित ज्ञानमें भी मनका व्यापार होता है–मनकी सहायताके विना वह नहीं हो सकता, तथापि वहाँ मन साधारण कारण और इन्द्रिय असाधारण कारण है, अतएव उसे इन्द्रियज कहनेमें कोई दोष नहीं है।

इन्द्रियज और अनिन्द्रियज–दोनों प्रकारके ज्ञान मतिज्ञान और श्रुतज्ञानके भेदसे दो-दो प्रकारके हैं। जो ज्ञान इन्द्रिय और मनके निमित्तसे हो किन्तु श्रुतका अनुसरण न करता हो वह मतिज्ञान कहलाता है और जो इन्द्रिय-मनोजन्य होते हुए श्रुतका अनुसरण करे वह श्रुतज्ञान कहलाता है। संकेत करनेवाले परोपदेश अथवा श्रुतग्रंथका अनुसरण करके, वाच्य-वाचकभावका संयोजन करके, 'घट घट', इस प्रकारके अन्तर्जल्पके आकारको ग्रहण करनेवाला ज्ञान श्रुतानुसारि या श्रुतका अनुसरण करनेवाला कहलाता है।

शंका–इस प्रकार व्याख्या करनेसे तो अवग्रह ही मतिज्ञान कहलाएगा, ईहा आदि नहीं क्योंकि ईहादि शब्दोल्लेखसे सहित होनेके कारण श्रुतज्ञान हो जाएँगे।

संकेतकाले श्रुतानुसारित्वेऽपि व्यवहारकाले तदनुसारित्वात्, अभ्यासपाटववशेन श्रुतानुसरणमन्तरेणापि विकल्पपरम्परापूर्वकविविधवचनप्रवृत्तिदर्शनात् । अंगोपांगादौ शब्दाद्यवग्रहणे च श्रुताननुसारित्वान्मतित्वमेव, यस्तु तत्र श्रुतानुसारी प्रत्ययस्तत्र श्रुतत्वमेवेत्यवधेयम् ।

(मतिज्ञानस्य अवग्रहादिभेदेन चातुर्विध्यप्रकटनम् ।)

१ मतिज्ञानम्-अवग्रहेहापायधारणाभेदाच्चतुर्विधम् । अवकृष्टो ग्रहः-अवग्रहः । स द्विविधः-व्यञ्जनावग्रहः, अर्थावग्रहश्च । व्यज्यते प्रकटीक्रियतेऽर्थोऽनेनेति व्यञ्जनम्-कदम्बपुष्पगोलकादिरूपाणामन्तर्निर्वृत्तीन्द्रियाणां शब्दादिविषयपरिच्छेदहेतुशक्तिविशेषलक्षणमुपकरणेन्द्रियम्, शब्दादिपरिणतद्रव्यनिकुरुम्बम्, तदुभयसम्बन्धश्च । ततो व्यञ्जनेन व्यञ्जनस्यावग्रहो व्यञ्जनावग्रह इति मध्यमपदलोपी समासः । २ अथ अज्ञानम् अयं बधिरादीनां श्रौत्रशब्दादिसम्बन्धवत् तत्काले ज्ञानानुपलम्भादिति चेत्;

समाधान-श्रुतनिश्रित अवग्रह आदि भी जब संकेतका ज्ञान कराते हैं, तब श्रुतानुसारि होते हैं। व्यवहार कालमें तो उन्हें श्रुतके अनुसरणकी आवश्यकता नहीं होती । अभ्यासकी अति पटुताके कारण, श्रुतानुसरण न होते हुए भी केवल विकल्पोंकी परम्पराके आधारसे विविध प्रकारके शब्दोंकी प्रवृत्ति देखी जाती है । अंग-उपांग आदि शास्त्रोंका शब्दविषयक अवग्रह आदि श्रुतानुसारि नहीं होता, अतएव वह मतिज्ञान ही है, किन्तु उन शब्दोंके बोधके बाद जो अर्थज्ञान होता है, वह श्रुतानुसारि होनेसे श्रुतज्ञान कहा जाता है ।

मतिज्ञान के भेद

१ मतिज्ञान चार प्रकारका है- अवग्रह, ईहा, अपाय, और धारणा।

अवग्रहके दो भेद हैं-व्यंजनावग्रह और अर्थावग्रह । जिसके द्वारा अर्थ व्यक्त-प्रकट किया जाय वह 'व्यंजन' कहलाता है । व्यंजनके तीन अर्थ हैं। ?-कदम्बके फूल तथा गोलक आदि आभ्यन्तर निर्वृत्तिरूप इन्द्रियोंकी शब्द आदि विषयोंको ग्रहण करनेकी कारणभूत शक्ति, जिसे उपकरणेन्द्रिय कहते हैं, 'व्यंजन' कहलाती है । २ शब्द आदिके रूपमें परिणत पुद्गल द्रव्योंका समूह भी व्यंजन कहलाता है ३) तथा उपकरणेन्द्रिय और विषयका संबंध भी व्यंजन कहलाता है । अतएव व्यंजन (उपकरणेन्द्रिय) के द्वारा व्यंजन (विषय) का ग्रहण होना व्यंजनावग्रह है । व्यंजनावग्रहमें मध्यमपदलोपी समास है, अर्थात् 'व्यंजनव्यंजनावग्रह' मेंसे बीचके 'व्यंजन' पदका लोप हो गया है ।

२ शंका-जैसे बहिरे आदमीके कानोंके साथ शब्दका संबंध होनेपर भी ज्ञान उत्पन्न नहीं होता, उसी प्रकार व्यंजनावग्रहके समय भी ज्ञानोत्पत्ति नहीं होती, अतः व्यंजनावग्रह ज्ञान नहीं, अज्ञान है ।

न; ज्ञानोपादानत्वेन तत्र ज्ञानत्वोपचारात्, अन्तेऽर्थावग्रहरूपज्ञानदर्शनेन तत्कालेऽपि चेष्टाविशेषाद्यनुमेयस्वप्नज्ञानादितुल्याव्यक्तज्ञानानुमानाद्वा एकतेजोऽवयववत् तस्य तनुत्वेनानुपलक्षणात् ।

(व्यञ्जनावग्रहस्य चातुर्विध्यप्रदर्शने मनश्चक्षुषोरप्राप्यकारित्वसमर्थनम् ।)

१ स च नयन-मनोवर्जेन्द्रियभेदाच्चतुर्धा, नयन-मनसोरप्राप्यकारित्वेन व्यञ्जनावग्रहासिद्धेः, अन्यथा तयोर्ज्ञेयकृतानुग्रहोपघातपात्रत्वे जलानलदर्शन-चिन्तनयोः क्लेद-दाहापत्तेः । रवि-चन्द्राद्यवलोकने चक्षुषोऽनुग्रहोपघातौ दृष्टावेवेति चेत्; न; प्रथमावलोकनसमये तददर्शनात्, अनवरतावलोकने च प्राप्तेन रविकिरणादिनोपघातस्या-(स्य), नैसर्गिकसौम्यादिगुणे चन्द्रादौ चावलोकिते उपघाताभावादनुग्रहाभिमानस्योप—

समाधान–व्यंजनावग्रह ज्ञानका उपादान है, अतएव वह भी उपचारसे ज्ञान है। इसके अतिरिक्त व्यंजनावग्रहके अन्तमें अर्थावग्रहरूप ज्ञानकी उत्पत्ति देखी जाती है, अतः व्यंजनावग्रहके कालमें भी चेष्टाविशेषसे अनुमान करने योग्य स्वप्नज्ञानकी तरह अव्यक्त ज्ञानका अनुमान होता है। तात्पर्य यह है कि जैसे स्वप्नके समय विभिन्न प्रकारकी चेष्टाओंको देखनेसे ज्ञानका अनुमान होता है, उसी प्रकार व्यंजनावग्रहके समय भी अव्यक्त ज्ञानका अनुमान होता है। जैसे अग्निका एक सूक्ष्म कण विद्यमान होनेपर भी अनुभवमें नहीं आता, उसी प्रकार व्यंजनावग्रहकालीन ज्ञान भी अति सूक्ष्म होनेके कारण मालूम नहीं होता।

व्यंजनावग्रह

१ चक्षु और मनको छोडकर शेष चार इन्द्रियोंसे उत्पन्न होनेके कारण व्यंजनावग्रह चार प्रकारका है। चक्षु और मनके अप्राप्यकारी होनेसे उनसे व्यंजनावग्रह नहीं होता। इन दोनोंको यदि प्राप्यकारी माना जाय तो ज्ञेय पदार्थजनित अनुग्रह और उपघातका पात्र भी उन्हें मानना पडेगा। ऐसी स्थितिमें जलको देखनेसे आँखमें गीलापन आ जायगा और अग्निको देखनेसे दाह होगा। इसी प्रकार मनसे जलका चिन्तन करनेपर आर्द्रता और अग्निका चिन्तन करनेपर दाह होना चाहिए।

शंका–सूर्य और चन्द्र आदिका अवलोकन करनेपर नेत्रका अनुग्रह और उपघात होता है। अतः चक्षुको प्राप्यकारी क्यों न माना जाय ?

समाधान–चक्षु प्राप्यकारी होती तो सूर्य और चन्द्रमाको देखनेके प्रथम क्षणमें ही उपघात और अनुग्रह होता; किन्तु ऐसा होता नहीं है, अतः वह प्राप्यकारी नहीं है। हाँ, लगातार देखते रहने से, आँखके साथ सूर्यकी किरणोंका संस्पर्श होता है और उससे उपघात होता है। और चन्द्रमा आदि स्वभावतः सौम्य पदार्थोंको देखने पर उपघात न होनेके कारण अनुग्रहका खयाल मात्र उत्पन्न होता है।

पत्तेः। मृतनष्टादिवस्तुचिन्तने, इष्टसंगमविभवलाभादिचिन्तने च जायमानौ दौर्बल्योरःक्षतादि-वदनविकासरोमाञ्चोद्गमादिलिंगकावुपघातानुग्रहौ न मनसः, किन्तु मनस्त्वपरिणतानिष्टेष्टपुद्गलनिचयरूपद्रव्यमनोऽवष्टम्भेन हृन्निरुद्धवायुभेषजाभ्यामिव जीवस्यैवेति न ताभ्यां मनसः प्राप्यकारित्वसिद्धिः। ननु यदि मनो विषयं प्राप्य न परिच्छिनत्ति तदा कथं प्रसुप्तस्य 'मेर्वादौ गतं मे मनः' इति प्रत्यय इति चेत्; न; मेर्वादौ शरीरस्येव मनसो गमनस्वप्नस्यासत्यत्वात्, अन्यथा विबुद्धस्य कुसुमपरिमलाद्यध्वजनितपरिश्रमाद्यनुग्रहोपघातप्रसंगात्। ननु स्वप्नानुभूतजिनस्नात्रदर्शन-समीहितार्थालाभयोरनुग्रहोपघातौ विबुध (द्ध) स्य सतो दृश्येते एवेति चेत्; दृश्येतां स्वप्नविज्ञानकृतौ तौ, स्वप्नविज्ञानकृतं क्रियाफलं तु तृप्त्यादिकं नास्ति, यतो विषयप्राप्तिरूपा प्राप्यकारिता मनसो युज्येतेति ब्रूमः। क्रियाफलमपि स्वप्ने व्यञ्जनवि-

---

प्रिय स्वजनकी मृत्यु और इष्ट वस्तुके विनाशके चिन्तनसे जो दुर्बलता, उरःक्षत आदि मनका उपघात होता है, अथवा इष्ट वस्तुके लाभ और वैभव आदिकी प्राप्तिका चिन्तन करनेसे वदनविकास और रोमांच हो जाने आदिसे प्रतीत होनेवाला अनुग्रह होता है, वह उपघात और अनुग्रह मनका नहीं होता; किन्तु मनरूपसे परिणत शुभ-अशुभ पुद्गल-पिंडरूप द्रव्य मनकी सहायतासे जीवका होता है। जैसे हृदयमें वायुके रुक जानेसे जीवका उपघात और औषधसे जीवका अनुग्रह होता है, उसी प्रकार इष्ट-अनिष्टके चिन्तनसे भी जीवका ही अनुग्रह और उपघात होता है। अतएव इस प्रकारके अनुग्रह और उपघातसे मन प्राप्यकारी सिद्ध नहीं होता।

शंका— यदि मन विषयको स्पर्श करके नहीं जानता तो सुप्त पुरुषको ऐसा भान क्यों होता है कि— 'मेरा मन मेरु आदि पर गया' ?

समाधान—जैसे मेरु पर शरीरके जानेका स्वप्न असत्य है उसी प्रकार मनके मेरुगमनका स्वप्न भी असत्य है। शरीरके मेरुगमनका स्वप्न असत्य न हो तो नन्दनवनके पुष्पोंके सौरभ आदिके कारण अनुग्रह और मार्ग चलनेके परिश्रमके कारण थकावटका अनुभव होना चाहिए।

शंका– स्वप्नमें अनुभूत जिन भगवान्के अभिषेकको देखनेसे और इष्ट अर्थकी अप्राप्तिसे, जागने पर भी अनुग्रह और उपघात देखा जाता है। इसका क्या कारण है ?

समाधान—वह अनुग्रह और उपघात स्वप्नमें होनेवाले विज्ञानसे होते हैं, स्वप्नसे नहीं, किन्तु स्वप्न–विज्ञानद्वारा की जाने वाली क्रियाका तृप्ति आदि फल नहीं होता है जिससे कि मनकी विषयप्राप्तिरूप प्राप्यकारिता सिद्ध हो सके !

शंका—स्वप्नमें स्त्रीसंभोग करनेसे वीर्यपातरूप क्रिया-फल भी तो देखा जाता है ?

सर्गलक्षणं दृश्यत एवेति चेत्; तत् तीव्राध्यवसायकृतम्, न तु कामिनीनिधुवनक्रिया-कृतमिति को दोषः ? ननु स्त्यानर्धिनिद्रोदये गीतादिकं शृण्वतो व्यञ्जनावग्रहो मनसोऽपि भवतीति चेत्; न; तदा स्वप्नाभिमानिनोऽपि श्रवणाद्यवग्रहेणैवोपपत्तेः। ननु 'च्यवमानो न जानाति' इत्यादिवचनात् सर्वस्यापि छद्मस्थोपयोगस्यासङ्ख्येय-समयमानत्वात्, प्रतिसमयं च मनोद्रव्याणां ग्रहणात् विषयमसम्प्राप्तस्यापि मनसो देहादनिर्गतस्य तस्य च स्वसन्निहितहृदयादिचिन्तनवेलायां कथं व्यञ्जनावग्रहो न भवतीति चेत्; शृणु; ग्रहणं हि मनः, न तु ग्राह्यम्। ग्राह्यवस्तुग्रहणे च व्यञ्ज-नावग्रहो भवतीति न मनोद्रव्यग्रहणे तदवकाशः; सन्निहितहृदयादिदेशग्रहवेलाया-मपि नैतदवकाशः; बाह्यार्थापेक्षयैव प्राप्यकारित्वाप्राप्यकारित्वव्यवस्थानात्, क्षयो-पशमपाटवेन मनसः प्रथममर्थानुपलब्धिकालासम्भवाद्वा; श्रोत्रादीन्द्रियव्यापारकाले-

---

समाधान–स्त्रीसंभोग–संबंधी तीव्र अध्यवसायके कारण ही वीर्यपातरूप क्रिया-फल होता, है, स्त्रीप्रसंगकी क्रियासे नहीं।

शंका–स्त्यानर्धि निद्राका उदय होनेपर गीत आदि सुननेवालेको मनसे भी व्यंजना-वग्रह होता है।

समाधान–यह समझना ठीक नहीं है; क्योंकि स्त्यानर्धि निद्राके समय गीत आदि सुनने वालेको श्रोत्र आदि इन्द्रियोंसे ही अवग्रह होता है; भले ही वह उसे स्वप्न मानता है; किन्तु मनसे उसे व्यंजनावग्रह नहीं होता।

शंका–'च्यवमानो न जानाति' इस आगमवाक्यसे छद्मस्थ जीवका उपयोग असंख्यात समयपरिमाण वाला सिद्ध है और उनमेंसे प्रत्येक समयमें मनोद्रव्योंका ग्रहण होता है; (वह द्रव्य तथा उनका ग्रहण संबंध ही व्यंजन है) अतः मनसे भी व्यंजन सिद्ध होता है। इसके अतिरिक्त मन भले ही विषयको स्पर्श न करे और देहसे बाहर न निकले, फिर भी अपने साथ संबद्ध हृदय आदिका चिन्तन करते समय व्यंजनावग्रह क्यों नहीं होगा ?

समाधान–सुनो! मन ग्रहण है अर्थात् ग्राहच वस्तुको ग्रहण करनेमें करण है, वह स्वयं ग्राहच नहीं है। व्यंजनावग्रह तो ग्राहच वस्तुको ग्रहण करने पर होता है। अर्थात् जिन मनोद्रव्योंके ग्रहणसे व्यंजनावग्रह सिद्ध करनेका प्रयत्न किया गया है, वे मनोद्रव्य ग्राहच न होनेसे उनके ग्रहण के कारण व्यंजनावग्रह सिद्ध नहीं होता। अपने साथ सम्बद्ध हृदय आदि प्रदेशोंका ग्रहण करते समय भी व्यंजनावग्रहके लिए अवकाश नहीं; क्योंकि बाहच पदार्थोंकी अपेक्षा ही प्राप्यकारिता या अप्राप्यकारिताकी व्यवस्था होती है। श्रोत्र आदि इन्द्रियोंका क्षमोपशम पटु नहीं होता, अतएव पहलेपहल वे अर्थकी उपलब्धि नहीं कर पातीं, परन्तु मनका क्षयोपशम पटु होने के कारण पहले अर्थकी अनुपलब्धिका काल संभव नहीं है। वह प्रथम समयमें ही

ऽपि मनोव्यापारस्य व्यञ्जनावग्रहोत्तरमेवाभ्युपगमात्, 'मनुतेऽर्थान् मन्यन्तेऽर्था: अनेनेति वा मनः' इति मनःशब्दस्यान्वर्थत्वात्, अर्थभाषणं विना भाषाया इव अर्थ-मननं विना मनसोऽप्रवृत्तेः। तदेवं नयनमनसोर्न व्यञ्जनावग्रह इति स्थितम्।

(अर्थावग्रहस्य निरूपणम्।)

१ स्वरूपनामजातिक्रियागुणद्रव्यकल्पनारहितं सामान्यग्रहणम् अर्थावग्रहः। कथं तर्हि 'तेन शब्द इत्यवगृहीतः' इति सूत्रार्थः, तत्र शब्दाद्युल्लेखराहित्याभावादिति चेत्; न; 'शब्द' इति वक्त्रैव भणनात्, रूपरसादिविशेषव्यावृत्त्यनवधारणपरत्वाद्वा।

अर्थकी उपलब्धि करनेमें समर्थ हो जाता है; इस कारण मनसे व्यंजनावग्रह न होकर सीधा अर्थावग्रह ही होता है। केवल मानसिक अवग्रह के लिए यह बात नहीं है, किन्तु श्रोत्रादि इन्द्रियोंके व्यापारके समय भी मनका व्यापार होता है, किन्तु श्रोत्रादिजनित व्यंजनावग्रहके पश्चात् (अर्थावग्रहके समयमें ही) मनका व्यापार माना गया है। जो पदार्थोंका मनन करता है या जिसके द्वारा पदार्थोंका मनन किया जाता है, वह मन कहलाता है। इस प्रकार मन शब्द सार्थक होता है। अर्थात् व्यंजनावग्रहके समय पदार्थकी उपलब्धि न होनेपर भी मनका व्यापार माना जाय तो मन शब्दकी यह सार्थकता नहीं रहेगी। अतएव जैसें अर्थके भाषणके बिना भाषाकी प्रवृत्ति नहीं होती, उसी प्रकार अर्थके मननके विना मनकी प्रवृत्ति नहीं होती। अभिप्राय यह है कि मन प्रवृत्त होते ही अर्थकी उपलब्धि करता है, और अर्थकी उपलब्धि व्यंजनावग्रहमें नहीं, अर्थावग्रहमें प्रारंभ होती है, अतएव मनसे व्यंजनावग्रह मानना योग्य नहीं। इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि नयन और मनसे व्यंजनावग्रह नहीं होता।

अर्थावग्रह

१ स्वरूप, नाम, जाति, क्रिया, गुण और द्रव्यकी कल्पना (शब्दोल्लेख-योग्य प्रतीति) से रहित सामान्यकी उपलब्धि अर्थावग्रह है। अर्थात् जिस ज्ञानमें सामान्य मात्राकी प्रतीति हो, पर जिसकी प्रतीति हुई है, उसका स्वरूप क्या है, नाम क्या है, जाति क्या है, क्रिया या गुण क्या है, वह क्या द्रव्य है, ये विशेष प्रतीत न हों, वह ज्ञान अर्थावग्रह कहलाता है।

शङ्का–अगर अर्थावग्रहमें शब्दोल्लेख–योग्य प्रतीति न होकर केवल सामान्य ही की प्रतीति होती है, तो नन्दीसूत्रमें अर्थावग्रहकी प्ररूपणा करते हुए जो कहा गया है कि 'उसने 'शब्द' ऐसा ग्रहण किया (सूत्रपाठ--से जहानामए केइ पुरिसे अव्वत्तं सद्दं सुणेज्जा, 'तेणं सद्देत्ति उग्गहिए' न उण जाणइ के वेस सद्दाइत्ति।') वह कथन कैसे संगत होगा? क्योंकि यह प्रतीति शब्दोल्लेखसे रहित नहीं है।

समाधान—'उसने शब्द ग्रहण किया' यहाँ शब्दकी जो बात कही गई है सो वक्ता (प्ररूपक) ने अपनी ओरसे कही है, जाननेवाला नहीं जानता कि यह 'शब्द' है। अथवा रूप

यदि च 'शब्दोऽयम्' इत्यध्यवसायोऽवग्रहे भवेत् तदा शब्दोल्लेखस्यान्तर्मुहूर्तिकत्वादर्थावग्रहस्यैकसामा (म) यिकत्वं भज्येत। स्यान्मतम्–'शब्दोऽयम्' इति सामान्यविशेषग्रहणमप्यर्थावग्रह इष्यताम्, तदुत्तरम्–'प्रायो माधुर्यादयः शङ्खशब्दधर्मा इह, न तु शाङ्र्गधर्माः खरकर्कशत्वादयः' इतीहोत्पत्तेः–इति; मैवम्; अशब्दव्यावृत्त्या विशेषप्रतिभासेनास्याऽपायत्वात् स्तोकग्रहणस्योत्तरोत्तरभेदापेक्षयाऽव्यवस्थितत्वात्। किञ्च, 'शब्दोऽयम्' इति ज्ञान (नं) शब्दगतान्वयधर्मेषु रूपादिव्यावृत्तिपर्यालोचनरूपामीहां विनाऽनुपपन्नम्, सा च नागृहीतेऽर्थे सम्भवतीति तद्ग्रहणं अस्मदभ्युपगतार्थावग्रहकालात् प्राक् प्रतिपत्तव्यम्, स च व्यञ्जनावग्रहकालोऽर्थपरिशून्य इति यत्किञ्चिदेतत्। नन्वनन्तरम्–'क एष शब्दः' इति शब्दत्वावान्तरधर्मविषयकेहानिर्देशात् 'शब्दोऽयम्' इत्याकार एवावग्रहोऽभ्युपेय इति चेत्; न; 'शब्दः शब्दः' इति भाषकेणैव भणनात्

रस आदिसे व्यावृत्ति न होनेके कारण शब्दरूपसे अनिश्चित शब्द वस्तुको ग्रहण करता है। अर्थात् शब्दको ग्रहण करनेपर भी ग्रहण करनेवाला यह नहीं जानता कि मैं शब्दको ग्रहण कर रहा हूँ। इस कारण सूत्रमें उक्त कथन किया गया है। अगर 'यह शब्द है' ऐसा अध्यवसाय अवग्रहमें मान लिया जाय तो शब्दके उल्लेखमें अन्तर्मुहूर्त्त लगता है, अतः अर्थावग्रह का काल भी अन्तर्मुहूर्त्त होगा। ऐसी स्थितिमें वह एकसामयिक नहीं रहेगा।

शङ्का—'यह शब्द है' इस प्रकार के सामान्य-विशेष (अपर सामान्य) के ग्रहण को भी अर्थावग्रह मान लीजिए। उसके बाद 'इसमें शंख-शब्दके धर्म मधुरता आदि मालूम होते हैं, श्रृंगशब्दके धर्म खरता, कर्कशता, आदि नहीं' इस प्रकारसे ईहाकी उत्पत्ति होती हैं।,

समाधान—ऐसा नहीं। 'यह शब्द है' ऐसा ज्ञान अशब्द (रूप रस आदि) की व्यावृत्ति होनेपर उत्पन्न होता है, अतएव विशेष का ज्ञान होनेसे वह अपाय है। रह गई यह बात कि इसमें स्तोक (थोडे) विशेष मालूम होते हैं, अतः यह अपाय नहीं है, सो आगे-आगेके ज्ञानों की अपेक्षा पहले-पहले के सभी ज्ञान थोडे विशेषों को जानते हैं। अतः स्तोकग्रहण अव्यवस्थित–अनियत है। इसके अतिरिक्त शब्दगत अन्वय धर्मोंमें, रूप रस आदिकी व्यावृत्तिकी पर्यालोचनारूप ईहाके बिना 'यह शब्द है' इस प्रकार का ज्ञान नहीं हो सकता। ईहा, अनवगृहीत पदार्थमें हो नहीं सकती, अतएव सामान्यका ग्रहण हमारे माने हुए अर्थावग्रहके कालसे पहले ही मानना चाहिए। मगर अर्थावग्रहसे पहलेका काल व्यंजनावग्रहका ही काल है और वह अर्थ-प्रतीतिसे शून्य होता है।

शङ्का—नन्दीसूत्रमें, अर्थावग्रहके बाद 'यह कौन-सा शब्द है' इस प्रकारके शब्दत्वसामान्यके अवान्तर (विशेष) धर्मसंबंधी ईहाका निर्देश किया गया है, अतएव इस ईहासे पहले 'यह शब्द है' इसी प्रकारका शब्दत्वसामान्यका ग्राही अवग्रह मानना चाहिए।

अर्थावग्रहेऽव्यक्तशब्दश्रवणस्यैव सूत्रे निर्देशात्, अव्यक्तस्य च सामान्यरूपत्वादनाकारोपयोगरूपस्य चास्य तन्मात्रविषयत्वात्। यदि च व्यञ्जनावग्रह एवाव्यक्तशब्दग्रहणमिष्येत तदा सोऽप्यर्थावग्रहः स्यात्, अर्थस्य ग्रहणात्।

१ केचित्तु–'संकेतादिविकल्पविकलस्य जातमात्रस्य बालस्य सामान्यग्रहणम्, परिचितविषयस्य त्वाद्यसमय एव विशेषज्ञानमित्येतदपेक्षया 'तेन शब्द इत्यवगृहीतः' इति नानुपपन्नम्'–इत्याहुः; तन्न; एवं हि व्यक्ततरस्य व्यक्तशब्दज्ञानमतिक्रम्यापि सुबहुविशेषग्रहप्रसङ्गात्। न चेष्टापत्तिः; 'न पुनर्जानाति क एष शब्दः' इति सूत्रावयवस्याविशेषेणोक्तत्वात्, प्रकृष्टमतेरपि शब्दं धर्मिणमगृहीत्वोत्तरोत्तरसुबहुधर्मग्रहणानुपपत्तेश्च।

अन्ये तु–'आलोचनपूर्वकमर्थावग्रहमाचक्षते, तत्रालोचनमव्यक्तसामान्यग्राहि, अर्थावग्रहस्त्वितरव्यावृत्तवस्तुस्वरूपग्राहीति न सूत्रानुपपत्तिः'–इति; तदसत्;

समाधान–'शब्द' 'शब्द' ऐसा तो प्ररूपक ही अपनी तरफसे कहता है, अर्थावग्रहमें तो अव्यक्त (अस्पष्ट) शब्दका श्रवण होना ही सूत्रमें कहा गया है। अव्यक्त वस्तु सामान्यरूप ही होती है और निराकार उपयोग सामान्यको ही विषय करता है, अगर व्यंजनावग्रहमें ही अव्यक्त शब्दका ग्रहण मान लिया जाय तो वह भी अर्थावग्रह हो जायगा. क्योंकि उसने अर्थ (सामान्य) का ग्रहण किया है

१ कोई–कोई ऐसा कहते हैं कि जो संकेत आदि विकल्पोंसे रहित है, अर्थात् जिसने शब्द और अर्थका संकेत नहीं समझा है, ऐसा तत्काल जन्मा हुआ बालक सिर्फ सामान्यको ग्रहण करता है, किन्तु जो विषयसे परिचित है, उसे पहले समयमें ही विशेषका ज्ञान हो जाता है। इसी अपेक्षासे उसने 'शब्द' ग्रहण किया, यह कहा गया है। अतएव यह कथन अयुक्त नहीं है। उनका यह कहना भी ठीक नहीं, इस तरह तो जो ज्यादा समझदार है–विद्वान् है- वह व्यक्त शब्दज्ञानसे भी आगे बढ़ कर शब्दगत बहुत से विशेषोंको ग्रहण करने लग जायगा। अगर कोई कहे कि यह तो इष्टापत्ति ही है, अर्थात् हम ऐसा मानते ही हैं, सो ठीक नहीं, क्योंकि इस सूत्रमें आगे यह भी कहा गया है कि वह यह नहीं जानता कि किसका क्या यह शब्द है?" सूत्रका यह भाग सभी–नासमझ–समझदार के लिए समानरूपसे ही कहा गया है, सिर्फ नासमझके लिए नहीं। अतएव अति उत्कृष्ट बुद्धिवाला भी शब्दधर्मी (सामान्य) को ग्रहण किये विना उत्तरोत्तर बहुत–से धर्मों को–मधुरता-कर्कशता आदि को नहीं ग्रहण कर सकता।

कोई–कोई कहते हैं–अर्थावग्रह आलोचनपूर्वक होता है, इसमें अप्रकट सामान्य (शब्दमात्र) को ग्रहण करनेवाला आलोचन होता है और अन्यव्यावृत्त वस्तु (यथा रूप रस आदिसे भिन्न शब्द) के स्वरूप को अर्थावग्रह ग्रहण करता है। ऐसी व्याख्या करनेसे नन्दी सूत्रका उक्त कथन ठीक बैठ जाता है।

यत आलोचनं व्यञ्जनावग्रहात् पूर्वं स्यात्, पश्चाद्वा, स एव वा ? नाद्यः; अर्थ–व्यञ्जनसम्बन्धं विना तदयोगात्। न द्वितीयः; व्यञ्जनावग्रहान्त्यसमयेऽर्थावग्रहस्यैवोत्पादादालोचनानवकाशात्। न तृतीयः; व्यञ्जनावग्रहस्यैव नामान्तरकरणात्, तस्य चार्थशून्यत्वेनार्थालोचनानुपपत्तेः। किञ्च, आलोचनेनेहां विना झटित्येवार्थावग्रहः कथं जन्यताम् ? युगपच्चेहावग्रहौ पृथगसङ्ख्येयसमयमानौ कथं घटेताम् ? इति विचारणीयम्। १. नन्ववग्रहेऽपि क्षिप्रेतरादिभेदप्रदर्शनादसङ्ख्यसमयमानत्वम्, विशेषविषयत्वं चाविरुद्धमिति चेन्न; तत्त्वतस्तेषामपायभेदत्वात्, कारणे कार्योपचारमाश्रित्यावग्रहभेदत्वप्रतिपादनात्, अविशेषविषये विशेषविषयत्वस्यावास्तवत्वात्।

२—अथवा अवग्रहो द्विविधः–नैश्चयिकः; व्यावहारिकश्च। आद्यः सामा–

उनका यह कथन सत्य नहीं है। यह अर्थावग्रहका कारण जो आलोचन आपने कहा, वह व्यंजनावग्रहसे पूर्व होता है, पश्चात् होता है अथवा व्यंजनावग्रह ही आलोचन है ? व्यंजनावग्रहसे पहले तो वह हो नहीं सकता क्योंकि अर्थ एवं व्यंजनका संबंध होनेसे पहले आलोचन संभव नहीं और अर्थ–व्यंजनका संबंध व्यंजनावग्रह है। व्यंजनावग्रहके बाद आलोचनका होना भी ठीक नहीं, क्योंकि व्यंजनावग्रहके अंतिम समयमें अर्थावग्रह उत्पन्न हो जाता है। इन दोनोंके बीचमें आलोचनके लिए कोई अवकाश–समय ही नहीं है। अगर तीसरा पक्ष स्वीकार किया जाय तो व्यंजनावग्रहका ही दूसरा नाम आलोचन होगा, किन्तु व्यंजनावग्रह अर्थज्ञान–शून्य होता है, अतएव वह अलोचन नहीं हो सकता। दूसरी बात यह है कि ईहाके विना झट–से आलोचन अर्थावग्रहको कैसे उत्पन्न कर देगा? कदाचित् कहो कि अवग्रह और ईहा, दोनों साथ-साथ हो जाते हैं तो कथन घटित नहीं हो सकता। सोचना चाहिए कि दोनोंका समय असंख्यात-असंख्यात समयका है, तो दोनों एक साथ कैसे हो सकेंगे ?

१. शंका–अवग्रहमें भी क्षिप्रग्राही अक्षिप्रग्राही आदि भेद दिखलाये जाएँगे, अतएव वह माननेमें कोई विरोध नहीं है कि अवग्रहका भी असंख्यात समय का काल है और वह विशेष को जानता है।

समाधान–क्षिप्रग्राही, अक्षिप्रग्राही आदि जो अवग्रहके भेद बतलाए जाएँगे, वास्तव में वे अपायके भेद हैं। सिर्फ कारण में कार्य का उपचार करके ही उन्हें अवग्रहका भेद कहा गया है। अर्थात् अपाय कार्य है और अवग्रह तथा ईहा उसके कारण हैं। कारणमें कार्यका धर्म योग्यतारूप में रहता है, इस अपेक्षासे अवग्रह–ईहा में अपायका उपचार (आरोप) कर लिया गया है। इसी कारण से उन्हें अवग्रह का भेद कहा गया है। सामान्य को विषय करनेवाले (अवग्रह) ज्ञान में क्षिप्रता आदि विशेष–विषयता अवास्तविक है पारमार्थिक नहीं।

२. अथवा–अवग्रह दो प्रकार है-नैश्चयिक और व्यावहारिक। नैश्चयिक अवग्रह केवल

न्यमात्रग्राही, द्वितीयश्च विशेषविषयः तदुत्तरमुत्तरोत्तरधर्माकांक्षारूपेहाप्रवृत्तेः; अन्यथा अवग्रहं विनेहानुत्थानप्रसंगात् अत्रैव क्षिप्रेतरादिभेदसंगतिः; अत एव चोपर्युपरि ज्ञानप्रवृत्तिरूपसन्तानव्यवहार इति द्रष्टव्यम् ।

(ईहावायधारणानां क्रमशो निरूपणम् ।)

अवगृहीतविशेषाकांक्षणम्–ईहा, व्यतिरेकधर्मनिराकरणपरोऽन्वयधर्मघटन-प्रवृत्तो बोध इति यावत्, यथा–'श्रोत्रग्राह्यत्वादिना प्रायोऽनेन शब्देन भवितव्यम्' 'मधुरत्वादिधर्मयुक्तत्वात् शाङ्खादिना' वा इति । न चेयं संशय एव; तस्यैकत्र धर्मिणि विरुद्धनानार्थज्ञानरूपत्वात्, अस्याश्च निश्चयाभिमुखत्वेन विलक्षणत्वात् ।

सामान्य को ग्रहण करता है । दूसरा व्यावहारिक अवग्रह विशेषग्राही है; क्योंकि इस अवग्रहके बाद आगे-आगेके विशेष धर्मोंको जाननेकी आकांक्षारूप ईहाकी उत्पत्ति होती है । अवग्रहके बिना ईहाकी उत्पत्ति नहीं हो सकती । इसी अवग्रहमें क्षिप्र-अक्षिप्र आदि भेद संगत होते हैं । इसीसे आगे-आगेके ज्ञानोंकी प्रवृत्तिरूप सन्तानव्यवहार होता है, ऐसा समझना चाहिये ।

तात्पर्य यह है कि–किसीने नैश्चयिक अवग्रहसे शब्द सामान्यको ग्रहण किया । तत्पश्चात् उसे ईहा हुई और फिर अपाय हो गया कि, यह शब्द ही है ।' इस अपायके पश्चात् उसे उत्तर-विशेष धर्मको जाननेकी फिर ईहा हुई । तथा यह शब्द शंखका है या शृंगकाहै ? इस ईहाके बाद फिर अपाय हुआ—'यह शंखका ही शब्द है ।' इस प्रकार अपायके बाद अगले धर्मको जाननेके लिए पुनः ईहा होती है और उसके बाद फिर अपाय होता है । यहाँ जिस अपायके बाद ईहा हो उस अपायको व्यावहारिक अवग्रह माना गया है; क्योंकि ईहा बिना अवग्रहके नहीं होती, अतः ईहासे पहलेका ज्ञान अवग्रह ही है । हाँ, जिस अपायके बाद ईहा और अपाय न हो, उस अपायको व्यावहारिक अवग्रह नहीं कहा जा सकता । ग्रन्थकार का कथन है-कि वस्तुतः जो ज्ञान अपायरूप है किन्तु उत्तरधर्म-विषयक ईहा का जनक है, वह अवग्रह माना गया है और उसी अवग्रहमें क्षिप्र-अक्षिप्र आदि भेदों की संगति होती है।

ईहाका स्वरूप

अवग्रह द्वारा जाने हुए सामान्य पदार्थमें विशेषको जाननेकी आकांक्षा होना ईहा है। अभिप्राय यह है कि जो ज्ञान व्यतिरेक (वस्तुमें न पाये जानेवाले) धर्मका निराकरण करनेमें तत्पर हो और अन्वय (वस्तुमें पाये जानेवाले) धर्मकी घटना करनेमें प्रवृत्त हो, वह ईहा कहलाता है । जैसे–'यह श्रोत्रसे ग्रहण होनेके कारण शब्द होना चाहिए' । (यह नैश्चयिक अवग्रहके बाद होनेवाले ईहा ज्ञानका उदाहरण है) अथवा 'मधुरता आदि धर्मोंसे युक्त होनेके कारण यह शंखका शब्द होना चाहिए' । (यह व्यावहारिक अर्थावग्रहके बाद होनेवाली ईहा का उदाहरण है ।) ईहाज्ञान संशय ही है, सो नहीं; क्योंकि एक धर्मीमें परस्पर विरोधी

१. ईहितस्य विशेषनिर्णयोऽवायः; यथा 'शब्द एवायम्', 'शाङ्ख एवायम्' इति वा।

स एव दृढतमावस्थापन्नो धारणा। सा च त्रिविधा–अविच्युतिः, स्मृतिः, वासना च। तत्रैकार्थोपयोगसातत्यानिवृत्तिः अविच्युतिः। तस्यैवार्थोपयोगस्य कालान्तरे 'तदेव' इत्युल्लेखेन समुन्मीलनं स्मृतिः। अपायाहितः स्मृतिहेतुः संस्कारो वासना। द्वयोरवग्रहयोरवग्रहत्वेन च तिसृणां धारणानां धारणात्वेनोपग्रहान्न विभागव्याघातः।

केचित्तु–अपनयनमपायः, धरणं च धारणेति व्युत्पत्त्यर्थमात्रानुसारिणः–'असद्भूतार्थविशेषव्यतिरेकावधारणमपायः, सद्भूतार्थविशेषावधारणं च धारणा'–इत्याहुः; तन्न; क्वचित्तदन्यव्यतिरेकपरामर्शात्, क्वचिदन्वयधर्मसमनुगमात्, क्वचि-

---

नाना धर्मोंका बोध होना संशय है। संशय विशेषकी ओर झुका हुवा नहीं होना, ईहाज्ञान विशेषकी ओर अभिमुख होता है। इस कारण यह संशयसे भिन्न है।

अपायका स्वरूप

१. ईहा द्वारा जाने हुए पदार्थमें विशेषका निश्चय हो जाना अपाय है। जैसे 'यह शब्द ही है'। अथवा 'यह शंखका ही शब्द है'।

धारणाका स्वरूप

वह अपाय ही दृढतम अवस्थाको प्राप्त होकर धारणा कहलाता है। धारणा तीन प्रकारकी है (१) अविच्युति (२) स्मृति और (३) वासना। किसी एक पदार्थ–संबंधी उपयोगकी सततताका बना रहना-उपयोगका जारी रहना अविच्युति है। एक बार उपयोगके हट जानेपर फिर कालान्तरमें 'वह' इस प्रकारसे उसी पदार्थका उपयोग उत्पन्न होना, अर्थात् पहले जाने हुए पदार्थका पुनः याद हो जाना स्मृति है। अपायज्ञानसे प्राप्त होनेवाला और स्मृतिका जनक संस्कार वासना है।

पूर्वोक्त दोनों अवग्रहों– व्यंजनावग्रह और अर्थावग्रहका सामान्य अवग्रहमें तथा तीनों प्रकारकी धारणाओंका एक सामान्य धारणामें ही संग्रह हो जाता है, अतएव मतिज्ञानके पहले बतलाये चार भेदोंमें कोई बाधा नहीं आती। अपाय और धारणा शब्दोंके केवल व्युत्पत्ति-अर्थका अनुसरण करनेवाले कोई-कोई कहते हैं-अपनयन करना (हटाना) अपाय है, अर्थात् वस्तुमें जो धर्म नहीं पाये जाते उनके निषेधका निश्चय करना अपाय है। और धारण करना धारणा है, अर्थात् वस्तुमें जो विद्यमान धर्म हैं उनका निश्चय करना धारणा है। जैसे– 'यह रूप, रस या अन्य कुछ नहीं है,' यह निश्चय हो जाना अपाय, और 'शब्द ही है' यह निश्चय होना धारणा है।

यह मान्यता ठीक नहीं। अपाय कहीं अविद्यमान धर्मोंके निषेधका निश्चय करता हुआ, कहीं विद्यमान धर्मके सद्भावका निश्चय करता हुआ और कहीं दोनों प्रकारसे होता

च्चोभाभ्यामपि भवतोऽपायस्य निश्चयैकरूपेण भेदाभावात्, अन्यथा स्मृतेराधिक्येन मतेः पञ्चभेदत्वप्रसंगात्। अथ नास्त्येव भवदभिमता धारणेति भेदचतुष्टया (य) व्याघातः; तथाहि उपयोगोपरमे का नाम धारणा? उपयोगसातत्यलक्षणा अविच्युतिश्चापायान्नातिरिच्यते। या च घटाद्युपयोगोपरमे संख्येयमसंख्येयं वा कालं वासनाऽभ्युपगम्यते, या च 'तदेव' इतिलक्षणा स्मृतिः सा मत्यंशरूपा धारणा न भवति मत्युपयोगस्य प्रागेवोपरतत्वात्, कालान्तरे जायमानोपयोगेऽप्यन्वयमुख्यां धारणायां स्मृत्यन्तर्भावादिति चेत्; न; अपायप्रवृत्त्यनन्तरं क्वचिदन्तर्मुहूर्त्तं यावदपायधाराप्रवृत्तिदर्शनात् अविच्युतेः, पूर्वापरदर्शनानुसन्धानस्य 'तदेवेदम्' इति स्मृत्याख्यस्य प्राच्यापायपरिणामस्य, तदाधायकसंस्कारलक्षणाया वासनायाश्च अपायाभ्यधिकत्वात्।

नन्वविच्युतिस्मृतिलक्षणौ ज्ञानभेदौ गृहीतग्राहित्वान्न प्रमाणम्; संस्कारश्च किं स्मृतिज्ञानावरणक्षयोपशमो वा, तज्ज्ञानजननशक्तिर्वा, तद्वस्तुविकल्पो

है। किन्तु सभी जगह उसका स्वरूप अर्थात् निश्चय एक ही है, अतएव उसमें भेद नहीं किया जा सकता। ऐसा न माना जाय और अपाय एवं धारणाकी व्युत्पत्ति-परक व्याख्या मानी जाय तो स्मृतिज्ञानका समावेश उसमें नहीं होगा। इस स्थितिमें मतिज्ञानके पाँच भेद मानने पडेंगे।

शंका– आपकी मानी हुई धारणा अलग नहीं है, अतएव मतिज्ञानके चार भेदोंमें कोई बाधा नहीं आती। वह इस प्रकार–उपयोगकी समाप्तिके बाद फिर धारणा कैसी? उपयोगका चालू रहनारूप अविच्युति अपायरूप है। घटादिका उपयोग समाप्त होनेपर भी संख्यात या असंख्यात काल तक रहनेवाली वासना और 'वह' इस आकारसे उत्पन्न होनेवाली स्मृति भी मतिज्ञानका अंशरूप धारणा नहीं कहला सकती, क्योंकि इनसे पहले ही मतिज्ञानका उपयोग–व्यापार–समाप्त हो चुकता है। कालान्तरमें जो उपयोग उत्पन्न होता है, वह अन्वयमुखी धारणामें अन्तर्गत हो जाता है।

समाधान– अपायज्ञानकी प्रवृतिके पश्चात् कहीं-कहीं अन्तर्मुहूर्त्त तक अपायकी धारा जारी रहती देखी जाती है, अतएव वह धारा अपायसे अलग है। पूर्वकालके और वर्तमान कालके दर्शनका जोड रूप 'यह वही है' इस प्रकार स्मरण–प्रत्यभिज्ञान–-नामसे प्रसिद्ध और पूर्वकालीन अपायका फलरूप ज्ञान भी अपायसे अलग है और उस ज्ञानकी धारणा करनेवाली संस्कारज्ञानस्वरूप वासना भी अपायसे अलग है।

शंका– अविच्युति और स्मृति–ये दोनों ज्ञान गृहीतग्राही (पहले जाने हुए पदार्थको ही जाननेवाले) हैं अतएव प्रमाण नहीं। रह गया संस्कार–वासना, सो वह संस्कार क्या है? स्मृतिज्ञानावरणका क्षयोपक्षम, या स्मृतिज्ञानको उत्पन्न करनेकी शक्ति अथवा उस वस्तुका

वेति त्रयी गतिः? तत्र–आद्यपक्षद्वयमयुक्तम्; ज्ञानरूपत्वाभावात् तद्भेदानां चेह विचार्यत्वात्। तृतीयपक्षोऽप्ययुक्त एव; संख्येयमसंखेयं वा कालं वासनाया इष्ट–त्वात्, एतावन्तं च कालं वस्तुविकल्पायोगादिति न कापि धारणा घटत इति चेत्; न; स्पष्टस्पष्टतरस्पष्टतमभिन्नधर्मकवासनाजनकत्वेन अन्यान्यवस्तुग्राहित्वादविच्युतेः प्रागननुभूतवस्त्वेकत्वग्राहित्वाच्च स्मृतेः अगृहीतग्राहित्वात्, स्मृतिज्ञानावरणकर्मक्षयोपशमरूपायास्तद्विज्ञानजननशक्तिरूपायाश्च वासनायाः स्वयमज्ञानरूपत्वेऽपि कारणे कार्योपचारेण ज्ञानभेदाभिधानाविरोधादिति।

एते चावग्रहादयो नोत्क्रमव्यतिक्रमाभ्यां न्यूनत्वेन चोत्पद्यन्ते, ज्ञेयस्येत्थमेव

विकल्प? संस्कारके संबंधमें यही तीन विकल्प हो सकते हैं। मगर इन तीनमेंसे पहलेके दो पक्ष ठीक नहीं, क्योंकि क्षयोपक्षम तथा शक्ति स्वयं ज्ञानरूप नहीं हैं और यहाँ ज्ञानके भेदोंका विचार किया जा रहा है। संस्कारको वस्तुविकल्प मानना भी संगत नहीं, क्योंकि संस्कार संख्यात–असंख्यात काल तक बना रहता है, मगर वस्तुविकल्प इतने लम्बे समय तक ठहर नहीं सकता। इस प्रकार विचार करनेपर धारणानामक कोई ज्ञान सिद्ध ही नहीं होता। अतएव मतिज्ञानके तीन भेद स्वीकार करने चाहिए, चार नहीं।

समाधान– अविच्युतिज्ञानको गृहीतग्राही कहना उचित नहीं। अविच्युतिका पहला क्षण अगर स्पष्ट वासनाको उत्पन्न करता है तो दूसरा क्षण स्पष्टतर वासनाका जनक है और तीसरा क्षण स्पष्टतम वासनाको पैदा करता है। इस कारण पहले क्षणकी अविच्युति प्रथम समयवाली वस्तुको जानती है, दूसरे समयकी अविच्युति द्वितीय क्षण-विशिष्ट वस्तुको ग्रहण करती है। अभिप्राय यह कि प्रत्येक क्षणमें वस्तुका पर्याय पलटता रहता है और उस पलटे हुए नये-नये पर्यायको ही अविच्युतिका एक-एक क्षण जानता है। इस कारण अविच्युति गृहीतग्राही नहीं है। स्मृति पूर्वपर्याय और वर्त्तमानपर्यायमें रहने वाले 'एकत्वको' विषय करती है और वह एकत्व पहले किसी ज्ञानसे गृहीत नहीं होता, इस कारण स्मरण भी गृहीतग्राही नहीं है। रही वासना, सो वह स्मृतिज्ञानावरणका क्षयोपशम है एवं स्मृतिज्ञानको उत्पन्न करनेकी शक्तिरूप है। यद्यपि वह स्वयं ज्ञानरूप नहीं है, फिर भी कारणमें कार्यका उपचार करके उसे ज्ञानका भेद मानलेनेमें कोई विरोध नहीं आता। अर्थात् वासना स्मृति–ज्ञानका कारण है, अतः उसे भी उपचारसे ज्ञान कहा है।

अवग्रह आदि का क्रम

अवग्रह आदि पूर्वोक्त ज्ञान न तो उत्क्रम (उलटे क्रम से) होते हैं और न व्यतिक्रम से (क्रम को भंग करके) होते हैं और न यही होता है कि पहले के विना हुए ही आगेका ज्ञान हो जाय। क्योंकि ज्ञेयका स्वभाव ही ऐसा है जिससे ज्ञान इसी प्रकार उत्पन्न होता है।

ज्ञानजननस्वाभाव्यात् क्वचिदभ्यस्तेऽपायमात्रस्य दृढवासने विषये स्मृतिमात्रस्य चोपलक्षणेऽप्युत्पलपत्रशतव्यतिभेद इव सौक्ष्म्यादवग्रहादिक्रमानुपलक्षणात्। तदेवम् अर्थावग्रहादयो मनइन्द्रियैः षोढा भिद्यमाना व्यञ्जनावग्रहचतुर्भेदैः सहाष्टाविंशतिर्मतिभेदा भवन्ति। अथवा बहु-बहुविध-क्षिप्रा-ऽनिश्रित-निश्चित-ध्रुवैः सप्रतिपक्षैर्द्वादशभिर्भेदैर्भिन्नानामेतेषां षट्त्रिंशदधिकानि त्रीणि शतानि भवन्ति। बह्वादयश्च भेदा विषयापेक्षाः; तथाहि-कश्चित् नानाशब्दसमूहमाकर्णितं बहुं जानाति-'एतावन्तोऽत्र शंखशब्दा एतावन्तश्च पटहादिशब्दाः' इति पृथग्भिन्नजातीयं क्षयोपशमविशेषात् परिच्छिनत्तीत्यर्थः। अन्यस्त्वल्पक्षयोपशमत्वात् तत्समानदेशोऽप्यबहुम्। अपरस्तु क्षयोपशमवैचित्र्यात् बहुविधम्, एकैकस्यापि शंखादिशब्दस्य स्निग्धत्वादिबहुधर्मान्वितत्वेनाप्याकलनात्। परस्त्वबहुविधम्, स्निग्धत्वादिस्वल्पधर्मान्वितत्वेनाकलनात्।

किसी-किसी परिचित विषय में सिर्फ अपाय ही सीधा हो गया जान पड़ता है और जिस विषय में दृढ़ वासना होती है उसमें सीधी स्मृति हुई जान पड़ती है, फिर भी ऐसा होता नहीं है। जैसे कमल के सौ पत्ते, एकके बाद दूसरा और दूसरेके बाद तीसरा, इस प्रकार क्रमसे ही छेदे जाते हैं, उसी प्रकार अवग्रह, ईहा, अपाय और धारणा भी क्रमसे ही होते हैं; सिर्फ जल्दी-जल्दी हो जाने के कारण उनका क्रम मालूम नहीं होता।

भेद-प्रभेद

अर्थावग्रह, ईहा, अपाय और धारणामेंसे प्रत्येक ज्ञान मन और पाँच इन्द्रियोंसे-छह निमित्तोंसे उत्पन्न होता है, अतः सबके मिलकर चौवीस भेद होते हैं। इनमें चार प्रकार का व्यंजनावग्रह (पहले बतलाया जा चुका है कि व्यंजनावग्रह चक्षु और मनसे नहीं होता; उसके चार ही भेद हैं।) मिला देने से मतिज्ञान के अट्ठाईस भेद हो जाते हैं।

अथवा- बहु, बहुविध, क्षिप्र, अनिश्रित, निश्चित और ध्रुव तथा इनके उलटे अबहु, अबहुविध, अक्षिप्र, निश्रित, अनिश्चित और अध्रुव, इन बारह भेदों के साथ पूर्वोक्त २८ भेदों का गुणाकार करनेसे मतिज्ञानके तीन सौ छत्तीस भेद होते हैं।

अट्ठाईस भेद कारणकी अपेक्षासे हैं और बहु आदि बारह भेद विषयकी अपेक्षासे हैं।

बारह भेदोंका स्पष्टीकरण इस भाँति है-(१) कोई सुने हुए नाना शब्दसमूहों में से क्षयोपशमकी विशेषताके कारण पृथक्-पृथक् भिन्नजातीय बहु-बहुतको जानता है, जैसे इनमें शंखके इतने शब्द हैं और पटह आदिके इतने शब्द हैं। (२) दूसरा कोई व्यक्ति क्षयोपशमकी अल्पताके कारण उसी जगहपर स्थित हो कर भी इसप्रकार नहीं जान पाता वह अबहुको जानता है। (३) कोई तीसरा व्यक्ति क्षयोपशमकी विचित्रताके कारण एक-एक शंख आदिके शब्दको भी स्निग्धता- कोमलता-आदि बहुतसे धर्मों-सहित जानता है। (४) कोई इससे विपरीत-अबहुविध जानता है, अर्थात् स्निग्धता आदि स्वल्प धर्मोंसे युक्त जानता है।

अन्यस्तु क्षिप्रम्, शीघ्रमेव परिच्छेदात्। इतरस्त्वक्षिप्रम्, चिरविमर्शेनाकलनात्। परस्त्वनिश्रितम्, लिंगं विना स्वरूपत एव परिच्छेदात्। अपरस्तु निश्रितम्, लिंग-निश्चयाऽऽकलनात्। [कश्चित्तु निश्चितम्, विरुद्धधर्मानालिंगितत्वेनावगतेः। इतरस्त्व-निश्चितम्, विरुद्धधर्माङ्कितत्तयावगमात्।] अन्यो ध्रुवम् बह्वादिरूपेणावगतस्य सर्वदैव तथा बोधात्। अन्यस्त्वध्रुवम्, कदाचिद्बह्वादिरूपेण कदाचित्त्वबह्वादिरूपेणा-वगमादिति। उक्ता मतिभेदाः।

(श्रुतज्ञानं चतुर्दशधा विभज्य तन्निरूपणम्।)

श्रुतभेदा उच्यन्ते—श्रुतम् अक्षर-सञ्ज्ञि-सम्यक्-सादि-सपर्यवसित-गमिकाऽङ्ग-प्रविष्टभेदैः सप्रतिपक्षैश्चतुर्दशविधम्। तत्राक्षरं त्रिविधम्-सञ्ज्ञा-व्यञ्जन-लब्धिभेदात्। सञ्ज्ञाक्षरं बहुविधलिपिभेदम्, व्यञ्जनाक्षरं भाष्यमाणमकारादि-एते चोपचारात् श्रुते। लब्ध्यक्षरं तु इन्द्रियमनोनिमित्तः श्रुतोपयोगः, तदावरणक्षयोपशमो वा। एतच्च परो-पदेशं विनापि नासम्भाव्यम्, अनाकलितोपदेशानामपि मुग्धानां गवादीनां च शब्द-

---

(५) कोई क्षिप्र—शीघ्र ही जान लेता है (६) कोई अक्षिप्र देर तक सोच—विचार करके जानता है। (७) कोई अनिश्रित को अर्थात् लिंगके विना स्वरूपसे ही जान लेता है। (८) कोई लिंग के आधारसे जानता है [(९) कोई निश्चितको—विरुद्ध धर्मोंसे रहित वस्तुको जानता है। (१० कोई अनिश्चित को अर्थात् विरुद्ध धर्मोंसे युक्त रूपमें जानता है।] (११) कोई ध्रुव रूपसे अर्थात् बहु अदि रूपसे जाने हुए पदार्थको सर्वदा बहु आदि रूपसे ही जानता है (१२) कोई अध्रुव रूपसे अर्थात् कभी बहुरूपसे तो कभीं अबहुरूपसे जानता है। मति-भेद कहे जा चुके।

अब श्रुतज्ञान के भेद कहे जाते हैं। श्रुतज्ञान चौदह प्रकार का है-(१) अक्षरश्रुत (२) अनक्षरश्रुत (३) संज्ञिश्रुत (४) असंज्ञिश्रुत (५) सम्यक्श्रुत (६) मिथ्याश्रुत (७) सादिश्रुत (८) अनादिश्रुत (९) सपर्यवसितश्रुत (१०) अपर्यवसितश्रुत (११) गमिकश्रुत (१२) अगमिकश्रुत (१३) अंगप्रविष्टश्रुत (१४) अनंगप्रविष्ट—अंगबाह्यश्रुत।

अक्षर तीन प्रकार के हैं—(१) संज्ञाक्षर (२) व्यंजनाक्षर और (३) लब्धि—अक्षर। नाना प्रकार की लिपियों के अक्षर संज्ञाक्षर कहलाते हैं और बोले जाने वाले 'अ' आदि अक्षर व्यंजनाक्षर कहलाते हैं। यह दोनों प्रकार के अक्षर ज्ञानरूप न होने के कारण उप-चार से ही श्रुत कहलाते हैं। इन्द्रिय और मन के निमित्त से होनेवाला श्रुतज्ञान का उप-योग अथवा श्रुतज्ञानावरण का क्षयोपशम लब्ध्यक्षर है। श्रुत यह परोपदेश के विना भी असंभव नहीं है; अर्थात् अक्षरश्रुत यद्यपि परोपदेश—जनित होता है, तथापि यह परोपदेश जन्यता संज्ञाक्षर और व्यंजनाक्षर के लिए ही समझनी चाहिए, लब्ध्यक्षरश्रुत क्षयोपशम आदि से परोपदेश के विना भी हो सकता है; क्यों कि जिन्हें उपदेश का लाभ नहीं हुआ ऐसे मुग्ध

श्रवणे तदाभिमुख्यदर्शनात्, एकेन्द्रियाणामप्यव्यक्ताक्षरलाभाच्च। अनक्षरश्रुतमुछ्-वासादि, तस्यापि भावश्रुतहेतुत्वात्, ततोऽपि 'सशोकोऽयम्' इत्यादिज्ञानाविर्भावात्। अथवा श्रुतोपयुक्तस्य सर्वात्मनैवोपयोगात् सर्वस्यैव व्यापारस्य श्रुतरूपत्वेऽपि अत्रैव शास्त्रज्ञलोकप्रसिद्धा रूढिः। समनस्कस्य श्रुतं सञ्ज्ञिश्रुतम्। तद्विपरीतमसञ्ज्ञिश्रुतम्। सम्यक्श्रुतम् अंगानंगप्रविष्टम्, लौकिकं तु मिथ्याश्रुतम्। स्वामित्वचिन्तायां तु भजना-सम्यग्दृष्टिपरिगृहीतं मिथ्याश्रुतमपि सम्यक्श्रुतमेव वितथभाषित्वादिना यथास्थानं तदर्थविनियोगात्, विपर्ययान्मिथ्यादृष्टिपरिगृहीतं च सम्यक्श्रुतमपि मि-थ्याश्रुतमेवेति। सादि-द्रव्यत एकं पुरुषमाश्रित्य, क्षेत्रतश्च भरतैरावते, कालत उत्सर्पिण्यवसर्पिण्यौ, भावतश्च तत्तज्ज्ञापकप्रयत्नादिकम्। अनादि,-द्रव्यतो नानापुरुषा-नाश्रित्य, क्षेत्रतो महाविदेहान्, कालतो नोउत्सर्पिण्यवसर्पिणीलक्षणम्, भावतश्च

मनुष्य और गौ आदि पशु भी अपना नाम आदि शब्द सुनकर उसकी ओर अभिमुख होते देखे जाते हैं। यही नहीं, एकेन्द्रिय जीवोंको भी अव्यक्त अक्षरश्रुत का लाभ होता है।

(२) अनक्षरश्रुत—उच्छ्‌वास आदि कहलाता है। यह भी भावश्रुतका कारण है, क्योंकि 'यह सशोक है' इत्यादि प्रकार का ज्ञान उससे उत्पन्न होता है। अथवा श्रुतज्ञान में उपयुक्त आत्मा का सर्वात्मना—सम्पूर्ण रूपसे ही व्यापार होता है, अतः उसका समस्त व्यापार श्रुत-स्वरूप ही है; फिर भी खास अभिप्रायसे होनेवाले उच्छ्‌वास, निःश्वास, खांसी छींक आदि को ही शास्त्रज्ञों की रूढ़ि के अनुसार अनक्षरश्रुत कहते हैं।

(३) संज्ञी (समनस्क) जीवोंका श्रुतज्ञान संज्ञिश्रुत कहलाता है। (४) असंज्ञी जीवोंके श्रुत को असंज्ञिश्रुत कहते हैं। (५) अंगप्रविष्ट (आचारांग आदि बारह अंग) और बाह्य (दशवैका-लिक आदि) श्रुत सम्यक्श्रुत हैं। (६) लौकिक आगम-अनाप्तप्रणीत शास्त्र—मिथ्याश्रुत हैं।

किन्तु सम्यक्श्रुत और मिथ्याश्रुतके स्वामियोंका विचार किया जाय तो दोनोंमें भजना—विकल्प है। वह इस प्रकार—सम्यग्दृष्टि द्वारा गृहीत मिथ्याश्रुत भी सम्यक्श्रुत ही है, क्यों कि सम्यक्दृष्टि मिथ्याश्रुत को पढ़कर उसे मिथ्यावादी आदि रूपसे यथास्थान ठीक-ठीक योजित कर लेता है। इसके विपरीत मिथ्या-दृष्टि द्वारा ग्रहण किया हुआ सम्यक्श्रुत भी मिथ्याश्रुत बन जाता है, क्योंकि वह यथार्थ रूप से उसकी योजना नहीं करता।

(७) द्रव्यसे एक पुरुषकी अपेक्षा, क्षेत्रसे भरत-ऐरावतकी अपेक्षा, कालसे उत्सर्पिणी-अवसर्पिणीकी अपेक्षा और भावसे अमुक-अमुक प्ररूपकके प्रयत्न-चेष्टा आदिकी अपेक्षासे श्रुत आदि होता है।

(८) द्रव्यके नाना (सभी) पुरुषोंकी अपेक्षा, क्षेत्रसे महाविदेहोंकी अपेक्षा, कालसे नोउत्सर्पिणी-अवसर्पिणीकी अपेक्षा और भावसे सामान्य क्षयोपक्षमकी अपेक्षासे श्रुत अनादि है सदैव ही बना रहता है।

सामान्यतः क्षयोपशममिति। एवं सपर्यवसितापर्यवसितभेदावपि भाव्यौ। गमिकं सदृशपाठं प्रायो दृष्टिवादगतम्। अगमिकमसदृशपाठं प्रायः कालिकश्रुतगतम्। अंग-प्रविष्टं गणधरकृतम्। अनंगप्रविष्टं तु स्थविरकृतमिति। तदेवं सप्रभेदं सांव्यवहारिकं मतिश्रुतलक्षणं प्रत्यक्षं निरूपितम्।

(पारमार्थिकं प्रत्यक्षं त्रिधा विभज्य प्रथममवधेर्निरूपणम्।)

स्वोत्पत्तावात्मव्यापारमात्रापेक्षं पारमार्थिकम्। तत् त्रिविधम्–अवधिमनः–पर्यय-केवलभेदात्। सकलरूपिद्रव्यविषयकजातीयम् आत्ममात्रापेक्षं ज्ञानमवधिज्ञानम्। तच्च षोढा-अनुगामिवर्धमानप्रतिपातीतरभेदात्। तत्रोत्पत्तिक्षेत्रादन्यत्राप्यनुवर्तमान-मानुगामिकम्, भास्करप्रकाशवत्, यथा भास्करप्रकाशः प्राच्यामाविर्भूतः प्रतीचीम-नुसरत्यपि तत्रावकाशमुद्योतयति, तथैतदप्येकत्रोत्पन्नमन्यत्र गच्छतोऽपि पुंसो विषय-मवभासयतीति। उत्पत्तिक्षेत्र एव विषयावभासकमनानुगामिकम्. प्रश्नादेशपुरुषज्ञा–

(९–१०) जिस द्रव्य क्षेत्र काल भाव-संबंधी अपेक्षासे श्रुत सादि है' उसी अपेक्षासे सपर्यवसित और जिस अपेक्षासे अनादि है, उसी अपेक्षासे अपर्यवसित समझना चाहिए। (११) जिसमें एक सरीखे पाठ हों वह गमिकश्रुत कहलाता है। एक-से पाठ प्रायः दृष्टिवादमें हैं। (१२) जिसमें समान पाठ न हों, वह अगमिकश्रुत है जैसे कालिकश्रुतके पाठ। (१३) गणधरों द्वारा रचित श्रुत अंगप्रविष्ट कहलाता है। (१४) स्थविरों द्वारा कृत श्रुत अनंगप्रविष्ट है। इस प्रकार मतिज्ञान और श्रुतज्ञान रूप सांव्यवहारिक प्रत्यक्षका भेद-प्रभेदों–सहित निरूपण किया जा चुका।

(पारमार्थिक प्रत्यक्ष)

जो ज्ञान अपनी उत्पत्तिमें सिर्फ आत्माके ही व्यापारकी अपेक्षा रखता है, मन और इन्द्रियोंकी सहायता जिसमें अपेक्षित नहीं है, वह पारमार्थिक प्रत्यक्ष है। पारमार्थिक प्रत्यक्ष तीन तरह का है—(१) **अवधिज्ञान** (२) **मनःपर्ययज्ञान और** (३) **केवलज्ञान।**

१.—सकल रूपी द्रव्योंको जाननेवाला और सिर्फ आत्मासे उत्पन्न होनेवाला ज्ञान अवधि-ज्ञान कहलाता है। वह छह प्रकारका है:– (१) अनुगामी (२) अननुगामी (३) वर्द्धमान (४) हीयमान (५) प्रतिपाति (६) अप्रतिपाति। (१) सूर्यके प्रकाशके समान अपनी उत्पत्तिके क्षेत्रसे दूसरी जगह भी साथ-साथ जानेवाला अवधिज्ञान आनुगामिक कहलाता है; जैसे सूर्यका प्रकाश पूर्व दिशामें प्रकट होता है, फिर भी पश्चिम दिशामें आ जाता है और वहाँके क्षेत्रको प्रकाशित करता है; उसी प्रकार आनुगामिक अवधिज्ञान जिस जगहपर रहे पुरुषको उत्पन्न होता है, वह पुरुष उससे भिन्न दूसरे स्थानपर चला जाय तो भी विषयका बोध कराता है। (२) अपने उत्पतिस्थान पर ही विषयका बोध करानेवाला ज्ञान अनानु–

नवत्, यथा प्रश्नादेशः क्वचिदेव स्थाने संवादयितुं शक्नोति पृच्छ्यमानमर्थम्, तथेदमपि अधिकृत एव स्थाने विषयमुद्योतयितुमलमिति। उत्पत्तिक्षेत्रात्क्रमेण विषय-व्याप्तिमवगाहमानं वर्धमानम्, अधरोत्तरारणिनिर्मथनोत्पन्नोपात्तशुष्कोपचीयमाना-धीयमानेन्धनराश्यग्निवत्, यथा अग्निः प्रयत्नादुपजातः सन् पुनरिन्धनलाभाद्विवृद्धि-मुपागच्छति एवं परमशुभाध्यवसायलाभादिदमपि पूर्वोत्पन्नं वर्धत इति। उत्पत्तिक्षे-त्रापेक्षया क्रमेणाल्पीभवद्विषयं हीयमानम्, परिच्छिन्नेन्धनोपादानसन्तत्यग्निशिखावत्, यथा अपनीतेन्धनाग्निज्वाला परिहीयते तथा इदमपीति। उत्पत्त्यनन्तरं निर्मूलनश्वरं प्रतिपाति, जलतरंगवत्, यथा जलतरंग उत्पन्नमात्र एव निर्मूलं विलीयते तथा इद-मपि। आ-केवलप्राप्तेः आ-मरणाद्वा अवतिष्ठमानम् अप्रतिपाति, वेदवत्, यथा पुरुषवेदादिरापुरुषादिपर्यायं तिष्ठति तथा इदमपीति।

(२—मनःपर्यवज्ञानस्य निरूपणम्।)

मनोमात्रसाक्षात्कारि मनःपर्यवज्ञानम्। मनःपर्यायानिदं साक्षात्परिच्छेत्तुमलम्,

---

गामिक कहलाता है, जैसे प्रश्नादेश पुरुषका ज्ञान। जैसे प्रश्नादेश पुरुष किसी खास स्थानपर ही पूछे हुए प्रश्नका सही उत्तर देनेमें समर्थ होता है, दूसरे स्थानपर सही उत्तर नहीं दे सकता, उसी प्रकार जो अवधिज्ञान, ज्ञानोत्पत्तिके स्थानपर ही रहे हुए पुरुषको विषयका ज्ञान कराता है अन्यत्र चले जानेपर नहीं, वह अनानुगामिक कहलाता है। (३) जो ज्ञान अपने उत्पत्तिक्षेत्रसे, क्रमशः पदार्थोंको जानता हुआ बढ़ता चला जाता है, वह वर्धमान अवधिज्ञान है। जैसे ऊपर-नीचे रखे हुए अरणिनामक दो काष्ठोंको रगड़नेसे उत्पन्न हुई अग्नि, सूखा ईंधन मिल जाने पर बढ़ती ही चली जाती है। तात्पर्य यह है कि जैसे प्रयत्नसे उत्पन्न हुई थोडी-सी अग्नि ईंधनका संयोग मिलनेसे बढ़ती जाती, उसी प्रकार जो अवधिज्ञान परम शुभ अध्यवसायका निमित्त पाकर, जितनी मात्रामें उत्पन्न हुआ था उससे अधिक बढ़ता जाता है, वह वर्धमान अवधिज्ञान कहलाता है। (४) जलती हुई अग्निमेंसे ईंधन निकाल लिया जाय तो वह हीन-कम-होती जाती है, उसी प्रकार जो अवधिज्ञान उत्पत्तिके समयमें जितने क्षेत्र (क्षेत्रस्थ पदार्थों) को प्रकाशित कर रहा था, बादमें क्रमसे उसका क्षेत्र कम होता चला जाय, वह हीयमान कहलाता है। (५) जैसे जलमें उत्पन्न हुई तरंग बादमें समूल विलीन हो जाती है, उसी प्रकार जो अवधिज्ञान उत्पत्तिके पश्चात् समूल नष्ट हो जाय, वह प्रतिपाति कहलाता है। (६) जैसे पुरुषवेद (पुरुषका चिह्न) जब तक पुरुषपर्याय रहती है, तब तक बना रहता है, उसी प्रकारसे अवधिज्ञान केवल ज्ञानकी प्राप्ति तक या मृत्युपर्यन्त बना रहता है, वह अप्रतिपाती कहलाता है।

२.—सिर्फ मनका साक्षात्कार करनेवाला ज्ञान मनःपर्यय या मनःपर्यव कहलाता है।

बाह्यानर्थान् पुनस्तदन्यथाऽनुपपत्त्याऽनुमानेनैव परिच्छिनत्तीति द्रष्टव्यम्। तद् द्विविधम्–ऋजुमति-विपुलमतिभेदात्। ऋज्वी सामान्यग्राहिणी मतिः ऋजुमतिः। सामान्यशब्दोऽत्र विपुलमत्यपेक्षयाऽल्पविशेषपरः, अन्यथा सामान्यमात्रग्राहित्वे मनः–पर्यायदर्शनप्रसंगात्। विपुला विशेषग्राहिणी मतिर्विपुलमतिः। तत्र ऋजुमत्या घटा–दिमात्रमनेन चिन्तितमिति ज्ञायते, विपुलमत्या तु पर्यायशतोपेतं तत् परिच्छिद्यत इति। एते च द्वे ज्ञाने विकलविषयत्वाद्विकलप्रत्यक्षे परिभाष्येते।

(३–केवलज्ञानस्य निरूपणम्।)

निखिलद्रव्यपर्यायसाक्षात्कारि केवलज्ञानम्। अत एवैतत्सकलप्रत्यक्षम्। तच्चा-वरणक्षयस्य हेतोरैक्याद्भेदरहितम्। आवरणं चात्र कर्मैव, स्वविषयेऽप्रवृत्तिमतोऽ–

मनःपर्ययज्ञान मनकी पर्यायोंको–चिन्तनीय पदार्थके निमित्तसे उत्पन्न होनेवाली आकृतियों–अवस्थाओं-परिणामोंको ही प्रत्यक्ष रूपसे जाननेमें समर्थ होता है। मनमें जिन बाहच पदार्थोंका चिन्तन किया जाता है, वे पदार्थ अनुमानसे हीं जाने जाते हैं। मनःपर्यायज्ञानी ऐसा अनुमान करता है कि 'अमुक पदार्थका चिन्तन किये विना मनकी अमुक प्रकारकी आकृति नहीं हो सकती।' इसप्रकारकी अन्यथानुपपत्तिसे वह बाह्य घट-पट आदि पदार्थोंको भी जान लेता है।

मनःपर्ययज्ञान दो प्रकारका है–ऋजुमति और विपुलमति। ऋजु अर्थात् सामान्यको ग्रहण करनेवाली मति ऋजुमति है। यहाँ सामान्यका अर्थ है विपुलमतिकी अपेक्षा थोडे विशेष धर्म। अगर ऋजुमति विशेष धर्मोंको न जाने और सिर्फ सामान्यको ही जाने तो वह मनः–पर्याय दर्शन हो जायगा।

विपुल अर्थात् बहुतसे विशेषोंको जानने वाली मति विपुलमति कहलाती है। ऋजुमतिसे इतना ही मालूम होता है कि इसने घटका चिन्तन किया है, विपुलमतिसे वही घट सैकडों पर्यायों–सहित मालूम होता है। अभिप्राय यह है कि ऋजुमति मन की स्थूल पर्यायोंको प्रत्यक्ष करता है, अतएव उनसे बाहय पदार्थोंकी भी थोडी सी ही विशेषताओंको समझ पाता है। विपुलमति मनकी पर्यायोंकी सूक्ष्मतर विशेषताओं को भी प्रत्यक्ष करता है, अतएव वह बाह्य पदार्थों की भी सैकडों विशेषताओं का अनुमान कर लेता है।

अवधिज्ञान और मनः पर्यायज्ञान विकल–विषयक अर्थात् समस्त पदार्थोंको न जान कर सिर्फ रूपी पदार्थोंको ही जानते हैं, अतएव इन्हें विकलप्रत्यक्ष कहते हैं।

३–समस्त द्रव्यों और समस्त पर्यायोंको प्रत्यक्ष करनेवाला ज्ञान केवलज्ञान है। यह ज्ञान समस्त पदार्थोंको जानता है। अतः यह सकल प्रत्यक्ष कहलाता है। केवलज्ञानका कारण आवरणका क्षयरूप एक ही है, अतएव केवल ज्ञानके भेद नहीं हैं–वह एक ही प्रकारका है।

यहाँ आवरण कर्म ही समझना चाहिए। अपने विषय में प्रवृत्ति न करनेवाला हम लोगों

स्मदादिज्ञानस्य सावरणत्वात्, असर्वविषयत्वे व्याप्तिज्ञानाभावप्रसंगात्, सावरणत्वा-भावेऽस्पष्टत्वानुपपत्तेश्च। आवरणस्य च कर्मणो विरोधिना सम्यग्दर्शनादिना विना-शात् सिद्धयति कैवल्यम्।

'योगजधर्मानुगृहीतमनोजन्यमेवेदमस्तु' इति केचित्; तन्न; धर्मानुगृहीते-नापि मनसा पञ्चेन्द्रियार्थज्ञानवदस्य जनयितुमशक्यत्वात्।

'कवलभोजिनः कैवल्यं न घटते' इति दिक्पटः; तन्न; आहारपर्याप्त्यसा-तवेदनीयोदयादिप्रसूतया कवलभुक्त्या कैवल्याविरोधात्, घातिकर्मणामेव तद्विरोधि-त्वात्। दग्धरज्जुस्थानीयात्ततो न तदुत्पत्तिरिति चेत्; नन्वेवं तादृशादायुषो भवोप-ग्रहोऽपि न स्यात्। किञ्च, औदारिकशरीरस्थितिः कथं कवलभुक्तिं विना भगवतः स्यात्। अनन्तवीर्यत्वेन तां विना तदुपपत्तौ छद्मस्थावस्थायामप्यपरिमितबलत्वश्रव-णाद् भुक्त्यभावः स्यादित्यन्यत्र विस्तरः। उक्तं प्रत्यक्षम्।

का ज्ञान आवरण-युक्त है। कदाचित् कहा जाय कि समस्त पदार्थोंका ज्ञान हो ही नहीं सकता, सो ठीक नहीं, ऐसा होता तो व्याप्तिके ज्ञान (तर्क) का अभाव हो जाता। हमारा ज्ञान अगर सावरण न होता तो उसमें अस्पष्टता न होती। ज्ञान की अस्पष्टता उसके आवरणयुक्त होनेका प्रमाण है। वह आवरण, सम्यग्दर्शन आदि विरोधी कारणोंसे नष्ट हो जाता है। इस प्रकार केवलज्ञान की सिद्धि होती है।

कोई कहते हैं—योग अर्थात् समाधिसे उत्पन्न होनेवाले धर्म (विशिष्ट शक्ति) से युक्त मनसे ही सकल प्रत्यक्ष उत्पन्न होता है।' यह कथन ठीक नहीं, क्योंकि जैसे योगज शक्तिसे सम्पन्न भी पाँच इन्द्रियोंसे सकलप्रत्यक्ष नहीं उत्पन्न हो सकता, उसी प्रकार मनसे भी नहीं उत्पन्न हो सकता।

दिगम्बरों का कथन है कि कवलाहारीको केवलज्ञान नहीं हो सकता; सो भी ठीक नहीं। आहारपर्याप्ति नामकर्म और असातावेदनीय कर्मके उदय आदि कारणोंसे होनेवाले कवलाहार का केवलज्ञानके साथ विरोध नहीं है। केवलज्ञानके विरोधी तो घातिककर्म ही हैं। अगर कहा जाय कि आहारपर्याप्ति और असातावेदनीय आदि कर्म केवलीमें जली हुई रस्सीके समान अकार्यकारी होते हैं, अतएव उनके उदयसे कवलाहार नहीं हो सकता; तो इसी प्रकार आयुकर्म भी अकार्यकारी होगा तो फिर केवलीकी भवस्थिति भी नहीं होगी! इसके अतिरिक्त, कवलाहारके बिना भगवान्के औदारिक शरीरकी स्थिति कैसे हो सकती है? अगर कहो कि अर्हन्त भगवान् में अनन्त वीर्य होता है, इस कारण कवलाहारके बिना भी उनका शरीर टिका रहता है, तो छद्मस्थ अवस्थामें भी उनमें अपरिमित बल सुना जाता है। अतः उसी समय कवलाहारका अभाव हो जाना चाहिए। इस विषयमें अन्यत्र विस्तारसे विचार किया गया है। इस प्रकार प्रत्यक्षका लक्षण कहा गया।

(परोक्षं लक्षयित्वा पञ्चधा विभज्य च स्मृतेर्निरूपणम् ।)

अथ परोक्षमुच्यते–अस्पष्टं परोक्षम् । तच्च स्मरण-प्रत्यभिज्ञान-तर्का-ऽनुमाना-ऽऽगमभेदतः पञ्चप्रकारम् । अनुभवमात्रजन्यं ज्ञानं स्मरणम्, यथा तत् तीर्थंकरबिम्बम् । न चेदमप्रमाणम्, प्रत्यक्षादिवत् अविसंवादकत्वात् । अतीततत्तांशे वर्तमानत्वविषयत्वादप्रमाणमिदमिति चेत्; न; सर्वत्र विशेषणे विशेष्यकालभानानियमात् । अनुभवप्रमात्वपारतन्त्र्यादत्राप्रमात्वमिति चेत्; न; अनुमितेरपि व्याप्तिज्ञानादिप्रमात्वपारतन्त्र्येणाप्रमात्वप्रसंगात् । अनुमितेरुत्पत्तौ परापेक्षा, विषयपरिच्छेदे तु स्वातन्त्र्यमिति चेत्; न; स्मृतेरप्युत्पत्तावेवानुभवसव्यपेक्षत्वात्, स्वविषयपरिच्छेदे तु स्वातन्त्र्यात् ।

परोक्षप्रमाण

अस्पष्ट ज्ञान परोक्ष कहलाता है । उसके पाँच भेद हैं–१) **स्मरण** २) **प्रत्यभिज्ञान** ३) **तर्क** ४) **अनुमान और** ५) **आगम ।**

१ सिर्फ अनुभवसे उत्पन्न होनेवाला ज्ञान स्मरण है, यथा–वह तीर्थंकरकी प्रतिमा !

स्मरण अप्रमाण नहीं है, क्योंकि वह प्रत्यक्ष आदिकी भाँति अविसंवादक है । अर्थात् जैसे प्रत्यक्ष प्रमाणसे किसी पदार्थको जानकर प्रवृत्ति करनेसे सफलता मिलती है, उसी प्रकार स्मरणसे जानकर प्रवृत्ति करने पर भी सफलता मिलती है ।

शंका–अतीतकालीन तत्–ता अंशमें वर्त्तमानताका बोध करनेसे स्मरण अप्रमाण है अर्थात् स्मरणका विषय तो भूतकालीन पदार्थ होता है, उसमें मालूम ऐसा पड़ता है जैसे कि वह वर्त्तमान में हो । इस कारण वह प्रमाण नहीं ।

समाधान–यह नियम नहीं कि सभी जगह विशेषणमें विशेष्यका काल भी मालूम हो । स्मरणमें वस्तुकी अतीतकालता और वर्त्तमानकालीनता दोनों स्वतंत्र मालूम होती हैं, अतः स्मरण अप्रमाण नहीं ।

शङ्का– स्मरण अनुभवके अधीन है, अर्थात् जिस वस्तुका पहले अनुभव न हुआ हो उसका स्मरण भी नहीं होता, इस प्रकार पराधीन होनेसे स्मरण प्रमाण नहीं है ।

समाधान–इस प्रकार पराधीन होनेसे स्मरणको अप्रमाण कहोगे तो अनुमान भी अप्रमाण हो जायगा, क्योंकि अनुमान भी व्याप्तिज्ञान (तर्क) आदिके अधीन है । जब तक तर्कसे व्याप्ति न जान ली जाय तब तक अनुमानकी उत्पत्ति नहीं होती, अतएव वह तर्कके अधीन है ।

शंका–अनुमान केवल उत्पत्ति में ही पराधीन है; अपने विषयको जानने में तो स्वतंत्र हैं । अर्थात् तर्क सामान्यरूपसे अग्नि और धूमकी व्याप्तिको जानता है; पर अनुमान पर्वतनिष्ठ अग्नि-विशेषको जानता है, अतः दोनोंका विषय अलग २ है ।

समाधान–इसी प्रकार स्मरण भी उत्पत्ति में ही अनुभवकी अपेक्षा रखता है; अपने विषयको जानने में तो वह भी स्वतंत्र ही है ।

अनुभवविषयीकृतभावावभासिन्याः स्मृतेर्विषयपरिच्छेदेऽपि न स्वातन्त्र्यमिति चेत्; तर्हि व्याप्तिज्ञानादिविषयीकृतानर्थान् परिच्छिन्दत्या अनुमितेरपि प्रामाण्यं दूरत एव। नैयत्येनाऽभात एवार्थोऽनुमित्या विषयीक्रियत इति चेत्; तर्हि तत्तयाऽभात एवार्थः स्मृत्या विषयीक्रियत इति तुल्यमिति न किञ्चिदेतत्।

(२–प्रत्यभिज्ञानस्य निरूपणम्।)

अनुभवस्मृतिहेतुकं तिर्यगूर्ध्वतासामान्यादिगोचरं सङ्कलनात्मकं ज्ञानं प्रत्यभिज्ञानम्। यथा 'तज्जातीय एवायं गोपिण्डः' 'गोसदृशो गवयः' 'स एवायं जिनदत्तः' 'स एवानेनार्थः कथ्यते' 'गोविलक्षणो महिष' 'इदं तस्माद् दूरम्' इदं तस्मात् समीपम् 'इदं तस्मात् प्रांशु ह्रस्वं वा' इत्यादि।

तत्तेदन्तारूपस्पष्टास्पष्टाकारभेदान्नैकं प्रत्यभिज्ञानस्वरूपमस्तीति शाक्यः; तन्न;

शंका—अनुभव द्वारा जाने हुए पदार्थको जाननेवाली स्मृति विषयके बोधमें भी स्वतंत्र नहीं है।

समाधान–तो तर्क आदि द्वारा जाने हुए पदार्थोंको जाननेवाला अनुमान भी प्रमाण कोटिमें नहीं आयगा।

शंका– (तर्कद्वारा) नियतरूपमें (यथा—पर्वतनिष्ठ अग्निके रूपमें) नहीं जाना गया पदार्थ ही अनुमान-द्वारा जाना जाता है, अतः वह स्वतंत्र है।

समाधान– तो फिर 'तत् (वह)' इस रूपमें नहीं जाना गया अर्थ स्मृति–द्वारा जाना जाता है, अतएव स्मरण भी अनुमान के ही समान स्वतंत्र है।

२ अनुभव और स्मरण से उत्पन्न होने वाला, [1] तिर्यक्सामान्य और [2] ऊर्ध्वता सामान्य आदिको जानने वाला, जोड़रूप ज्ञान प्रत्यभिज्ञान कहलाता है। जैसे–यह गाय उसी जाति की है, गवय गौ के समान होता है, यह वही जिनदत्त है, यह भी उसी अर्थको कहता है, यह भैंस गौसे विलक्षण है, यह उससे दूर है, यह उससे समीप है, यह उससे बड़ा है, यह उससे छोटा है; इत्यादि।

प्रत्यभिज्ञानके विषयमें बौद्ध कहते हैं–प्रत्यभिज्ञानमें एक नहीं–दो आकार प्रतीत होते हैं। एक 'तत् (वह)' ऐसा आकार और दूसरा 'इदम् (यह)' ऐसा आकार। 'इन दोनों आकारों में 'तत्' यह आकार अस्पष्ट है और 'इदम्' आकार स्पष्ट है। इस प्रकारके आकार– भेदके कारण प्रत्यभिज्ञान का स्वरूप एक नहीं है। उनका यह कथन ठीक नहीं।

१– एक कालमें अनेक व्यक्तियोंमें रहने वाली समानता। २– अनेक कालोंमें एक व्यक्तिमें पायी जाने वाली समानता।

आकारभेदेऽपि चित्रज्ञानवदेकस्य तस्यानुभूयमानत्वात्, स्वसामग्रीप्रभवस्यास्य वस्तुतोऽस्पष्टैकरूपत्वाच्च, इदन्तोल्लेखस्य प्रत्यभिज्ञानिबन्धनत्वात्। विषयाभावान्नेदमस्तीति चेत्; न; पूर्वापरविवर्तवर्त्येकद्रव्यस्य विशिष्टस्यैतद्विषयत्वात्। अत एव 'अगृहीतासंसर्गकमनुभवस्मृतिरूपं ज्ञानद्वयमेवैतद्' इति निरस्तम्; इत्थं सति विशिष्टज्ञानमात्रोच्छेदापत्तेः। तथापि 'अक्षान्वयव्यतिरेकानुविधायित्वात् प्रत्यक्षरूपमेवेदं युक्तम्' इति केचित्; तन्न; साक्षादक्षान्वयव्यतिरेकानुविधायित्वस्यासिद्धेः, प्रत्यभिज्ञानस्य साक्षात्प्रत्यक्षस्मरणान्वयव्यतिरेकानुविधायित्वेनानुभूयमानत्वात्, अन्यथा प्रथमव्यक्तिदर्शनकालेऽप्युत्पत्तिप्रसङ्गात्।

अथ पुनर्दर्शने पूर्वदर्शनाहितसंस्कारप्रबोधोत्पन्नस्मृतिसहायमिन्द्रियं प्रत्यभिज्ञानमुत्पादयतीत्युच्यते; तदनुचितम्; प्रत्यक्षस्य स्मृतिनिरपेक्षत्वात्। अन्यथा पर्वते

जैसे बौद्धोंके माने चित्रज्ञानमें अनेक आकार प्रतिभासित होने पर भी वह एक ही है, उसी प्रकार प्रत्यभिज्ञान भी एक ही प्रतीत होता है। अपनी सामग्रीसे उत्पन्न होनेवाला प्रत्यभिज्ञान वास्तव में एक ही अस्पष्ट आकारवाला है। उसमें होनेवाला 'इदम्' उल्लेख प्रत्यभिज्ञान का कारण है।

शंका— सभी पदार्थ क्षणिक हैं, अतएव प्रत्यभिज्ञानका विषय कुछ भी नहीं। इस कारण वह अप्रमाण है।

समाधान— नहीं, पूर्वपर्याय और वर्त्तमान पर्याय में स्थिर रहनेवाला विशिष्ट एक (द्रव्य का एकत्व) प्रत्यभिज्ञानका विषय है।

इस विवेचनसे प्राभाकरोंका यह मत भी खण्डित हो जाता है कि प्रत्यभिज्ञान वास्तव में एक ज्ञान नहीं, किन्तु प्रत्यक्ष और स्मरणरूप दो ज्ञान हैं, परन्तु दोनोंमें भेद मालूम नहीं पड़ता, इस कारण वे एक ज्ञानके रूपमें मालूम होते हैं। ऐसा माननेपर तो प्राभाकरको दण्डसहित दण्डी इत्यादि सभी विशिष्ट ज्ञानोंका अभाव मानना पडेगा।

नैयायिकोंका कहना है कि प्रत्यभिज्ञान इन्द्रियके साथ अन्वय-व्यतिरेक धारण करता है, अर्थात् इन्द्रियव्यापार होनेपर ही होता है और इन्द्रियव्यापारके अभावमें नहीं होता, अतः यह प्रत्यक्ष ही है। उनका कथन भी ठीक नहीं प्रत्यभिज्ञानमें इन्द्रियोंका व्यापार साक्षात् नहीं होता; किन्तु प्रत्यक्ष और स्मरणका ही साक्षात् अन्वय-व्यतिरेक अनुभवमें आता है। ऐसा न होता तो प्रथम व्यक्तिको देखनेपर भी प्रत्यभिज्ञान उत्पन्न हो जाता।

शंका—पहलेके प्रत्यक्षसे संस्कार प्राप्त होता है। उस संस्कारकी जागृति होनेपर स्मृति की उत्पत्ति होती है। उस स्मृतिकी सहायतासे इन्द्रिय ही प्रत्यभिज्ञानको उत्पन्न कर देती है, अतः वह प्रत्यक्ष ही है।

समाधान—यह कथन अनुचित है, क्यों कि प्रत्यक्षको स्मृतिकी अपेक्षा नहीं होती। अगर

वह्निज्ञानस्यापि व्याप्तिस्मरणादिसापेक्षमनसैवोपपत्तौ अनुमानस्याप्युच्छेदप्रसङ्गात्। किञ्च, 'प्रत्यभिजानामि' इति विलक्षणप्रतीतेरप्यतिरिक्तमेतत्, एतेन ,विशेष्येन्द्रियसन्निकर्षसत्त्वाद्विशेषणज्ञाने सति विशिष्टप्रत्यक्षरूपमेतदुपपद्यते' इति निरस्तम्; 'एतत्सदृशः सः' इत्यादौ तदभावात्,स्मृत्यनुभवसङ्कलनक्रमस्यानुभविकत्वाच्चेति दिक्।

अत्राह भाट्टः-नन्वेकत्वज्ञानं प्रत्यभिज्ञानमस्तु, सादृश्यज्ञानं तूपमानमेव, गवये दृष्टे गवि च स्मृते सति सादृश्यज्ञानस्योपमानत्वात्, तदुक्तम्-

"तस्माद्यत् स्मर्यते तत् स्यात् सादृश्येन विशेषितम् ।
प्रमेयमुपमानस्य सादृश्यं वा तदन्वितम् ।।
प्रत्यक्षेणावबुद्धेऽपि सादृये गवि च स्मृते ।
विशिष्टस्यान्यतोऽसिद्धेरुपमानप्रमाणता ।।" श्लोकवा० उप० ३७-३८

इति; तन्न; दृष्टस्य सादृश्यविशिष्टपिण्डस्य स्मृतस्य च गोः सङ्कलनात्मकस्य 'गोसदृशो गवयः' इति ज्ञानस्य प्रत्यभिज्ञानताऽनतिक्रमात् । अन्यथा 'गोविसदृशो

ऐसा न माना जाय तो यह भी कहा जा सकेगा कि व्याप्ति-स्मरण की सहायतासे, मनसे ही पर्वतमें अग्निका ज्ञान हो जाता है, अतएव वह भी प्रत्यक्ष है । ऐसी अवस्थामें अनुमानका भी अभाव हो जायगा ।

इसके अतिरिक्त 'प्रत्यभिजानामि' इस विलक्षण प्रतीतिसे भी प्रत्यभिज्ञान अलग ही सिद्ध होता है । इस विवेचनसे नैयायिकोंका यह कहना भी खण्डित हो जाता है कि 'स एवायं घटः (यह वही घट है)' यहाँ घट रूप विशेष्यके साथ इन्द्रियका सन्निकर्ष होनेसे 'वह' इस प्रकारके विशेषणज्ञान-स्मरणकी सहायतासे विशिष्ट प्रत्यक्षरूप ही प्रत्यभिज्ञान उत्पन्न होता है । 'क्यों कि' वह इसके समान है इस सादृश्यप्रत्यभिज्ञानमें उक्त कथन घटित नहीं हो सकता-और स्मृति तथा अनुभवकी संकलनाका क्रम अनुभवमें आता है। अतः प्रत्यभिज्ञान पृथक् ही प्रमाण है ।

भाट्ट कहते हैं-एकत्वको विषय करनेवाला ज्ञान भले ही प्रत्यभिज्ञान कहलाए, किन्तु सदृशताको जाननेवाला ज्ञान उपमान है । गवयके देखनेपर और गौका स्मरण होनेपर जो सदृशता का ज्ञान होता है, वह उपमान है । कहा भी है-'सदृशतासे युक्त जिस पदार्थका स्मरण किया जाता है, वह उपमान का प्रमेय(विषय)है । अथवा उस पदार्थसे युक्त सदृशता उपमानका विषय है। सादृश्य यद्यपि प्रत्यक्षसे दिखाई देता है और गायका स्मरण होता है, फिर भी विशिष्टताका बोध किसी भी अन्य प्रमाणसे नहीं होता । इसी कारण उपमान प्रमाण है ।

भाट्टोंकी यह मान्यता युक्त नहीं है। प्रत्यक्ष और स्मरणके जोड़रूप ज्ञानको प्रत्यभिज्ञान कहा गया है । 'गवय गौके समान है' इस ज्ञानमें भी उक्त लक्षण घटित होता है । अतएव

महिषः' इत्यादेरपि सादृश्याविषयत्वेनोपमानातिरेके प्रमाणसंख्याव्याघातप्रसंगात्।

एतेन–'गोसदृशो गवयः' इत्यतिदेशवाक्यार्थज्ञानकारणकं सादृश्यविशिष्टपिण्ड-दर्शनव्यापारकम् 'अयं गवयशब्दवाच्यः' इति सञ्ज्ञासञ्ज्ञिसम्बन्धप्रतिपत्तिरूपमुप-मानम्–इति नैयायिकमतमप्यपहस्तितं भवति। अनुभूतव्यक्तौ गवयपदवाच्यत्वसङ्क-लनात्मकस्यास्य प्रत्यभिज्ञानत्वानतिक्रमात् प्रत्यभिज्ञानावरणकर्मक्षयोपशमविशेषेण यद्धर्मावच्छेदेनातिदेशवाक्यानूद्यधर्मदर्शनं तद्धर्मावच्छेदेनैव पदवाच्यत्वपरिच्छेदोपपत्तेः। अत एव "पयोम्बुभेदी हंसः स्यात्" इत्यादिवाक्यार्थज्ञानवतां पयोऽम्बुभेदित्वादिवि-शिष्टव्यक्तिदर्शने सति 'अयं हंसपदवाच्यः' इत्यादिप्रतीतिर्जायमानोपपद्यते। यदि

उसे प्रत्यभिज्ञान ही मानना उचित है। सदृशतासे विशिष्ट पिण्ड (गवय) का प्रत्यक्ष और गौका स्मरण होता है। इन दोनोंका संकलनरूप जो 'गौके समान गवय' यह ज्ञान है, वह प्रत्यभिज्ञान से अलग नहीं हो सकता। अगर सदृशताको जाननेवाला उपमान प्रमाण अलग मानोगे तो 'महिष गाय से विलक्षण है, इत्यादि ज्ञान–जो सदृशताको नहीं जानते–उपमानसे भी अलग प्रमाण मानने पड़ेंगे। ऐसी स्थितिमें प्रमाणोंकी नियत संख्यामें व्याघात हो जायगा।

नैयायिक भी उपमान को प्रमाण तो मानते हैं, किन्तु भाट्ट की भाँति उसे सादृश्य-विषयक नहीं मानते। उनके मतानुसार संज्ञा (नाम) और संज्ञी (नामवाले) के संबंधका ज्ञान हो जाना उपमान है। वे कहते हैं–'गोसदृशो गवयः' अर्थात् गवय गौके समान होता है; ऐसा अतिदेश वाक्य किसी ने सुना और उसका अर्थ समझा। उसके बाद गौके समान पिण्ड (गवय) उसे दिखाई दिया। जब उसे गवय दिखाई दिया तभी पहले सुने हुए वाक्य का स्मरण हो आया। इस प्रकार सदृश पिण्डके देखने और पूर्वश्रुत वाक्यके स्मरणसे उसे ज्ञान हो गया कि–'गवय शब्दका वाच्य यह है।' इस तरह गवय शब्द और गवय पदार्थके आपसके संज्ञा–संज्ञी–संबंधका ज्ञान हो जाना उपमान है।

भाट्टके मतपर जो विचार किया गया है, उसीसे नैयायिकका यह कथन भी खंडित हो जाता है। पूर्वानुभूत व्यक्तिमें गवय शब्दकी वाच्यताका संकलनस्वरूप यह ज्ञान भी प्रत्यभि-ज्ञानसे अलग नहीं है।

प्रत्यभिज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशम-विशेषसे, जिस धर्म–संबंधी अतिदेश वाक्यद्वारा-कथित धर्मका दर्शन होता है, उसी धर्मको लेकर शब्दकी वाच्यताका ज्ञान होता है।

इसी से 'हंस दूध और पानीका भेदक होता है' इत्यादि वाक्योंके अर्थको जाननेवाले व्यक्ति जब दूध–पानीके भेदकत्व आदि धर्मवाले व्यक्तियोंको देखते हैं तब उन्हें 'हंस शब्दका वाच्य यह है' इस प्रकारकी प्रतीति होती है।

व 'अयं गवयपदवाच्यः' इति प्रतीत्यर्थं प्रत्यभिज्ञातिरिक्तं प्रमाणमाश्रीयते तदा आमलकादिदर्शनाहितसंस्कारस्य बिल्वादिदर्शनात् 'अतस्तत् सूक्ष्मम्' इत्यादिप्रतीत्यर्थं प्रमाणान्तरमन्वेषणीयं स्यात्। मानसत्वे चासामुपमानस्यापि मानसत्वप्रसंगात्। 'प्रत्यभिजानामि' इति प्रतीत्या प्रत्यभिज्ञानत्वमेवाभ्युपेयमिति दिक्।

(३ तर्कस्य निरूपणम्।)

सकलदेशकालाद्यवच्छेदेन साध्यसाधनभावादिविषय ऊहस्तर्कः, यथा 'यावान् कश्चिद्धूमः स सर्वो वह्नौ सत्येव भवति, वह्निं विना वा न भवति' 'घटशब्दमात्रं घटस्य वाचकम्' घटमात्रं घटशब्दवाच्यम्' इत्यादि। तथा हि—स्वरूपप्रयुक्ताऽव्यभिचारलक्षणायां व्याप्तौ भूयोदर्शनसहितान्वयव्यतिरेकसहकारेणापि प्रत्यक्षस्य तावदविषयत्वादेवाप्रवृत्तिः, सुतरां च सकलसाध्यसाधनव्यक्त्युपसंहारेण तद्ग्रह इति

'यह गवय शब्दका वाच्य है ऐसी प्रतीतिके लिए अगर प्रत्यभिज्ञानसे अलग उपमान प्रमाण माना जायगा तो आँबलेके दर्शनसे प्राप्त संस्कारवाला पुरुष जब बिल्व (बेल) को देखेगा और उसे 'इससे वह छोटा है, ऐसी प्रतीति होगी तो इस प्रकारकी प्रतीतियोंके लिए उपमानसे अलग प्रमाण मानने पड़ेंगे।

कदाचित् 'यह उससे छोटा है, यह उससे बड़ा है, यह उससे विलक्षण है' इत्यादि प्रतीतियोंको मानसिक ज्ञान मानो तो फिर उपमानका भी मानस ज्ञान ही मान लेना चाहिए तात्पर्य यह है कि 'प्रत्यभिजानामि' इस प्रकारकी प्रतीतिसे इन सब संकलनात्मक ज्ञानोंको प्रत्यभिज्ञान ही स्वीकार करना चाहिए।

३ समस्त देश और समस्त काल-संबंधी साध्य-साधनभाव (अविनाभावव्याप्ति) आदि (वाच्यवाचकभाव) को जानने वाला ज्ञान तर्क है। जैसे 'जो भी कोई धूम होता है, वह सब अग्निके होने पर ही होता है, अग्निके बिना नहीं होता।' तथा जो-जो घट शब्द होते हैं, वे सब घट (अर्थ) के वाचक होते हैं, जो-जो घट पदार्थ हैं, वे सब 'घट' शब्दके वाच्य होते हैं, इत्यादि।

स्वाभाविक अव्यभिचार* रूप व्याप्तिमें भूयोदर्शन—सहित अन्वय और व्यतिरेककी सहायतासे भी प्रत्यक्षकी प्रवृत्ति नहीं हो सकती, क्यों कि व्याप्ति प्रत्यक्षका विषय ही नहीं है। आशय यह है कि प्रत्यक्ष इन्द्रियसम्बद्ध और वर्तमानकालीन वस्तुको ही जान सकता है, त्रिकाल-त्रिलोक-संबंधी व्याप्तिको नहीं, किन्तु सकल साध्य और साधनके उपसंहार-द्वारा

---

* अव्यभिचार दो प्रकारका है अनौपाधिक और सोपाधिक, जहाँ धूम होता है वहाँ अग्नि होती है, यहाँ अनौपाधिक अव्यभिचार है। यही स्वाभाविक अव्यभिचार कहलाता है। किन्तु जहाँ अग्नि होती है वहाँ धूम होता है, यहाँ सोपाधिक अव्यभिचार है, क्योंकि यहाँ गीले ईंधनका संयोग रूप उपाधि है, असलमें व्याप्ति वही है जहाँ स्वाभाविक-अनौपाधिक अव्यभिचार हो।

साध्य–साधन–दर्शन–स्मरणप्रत्यभिज्ञानोपजनितस्तर्क एव तत्प्रतीतिमाधातुमलम् ।

अथ स्वव्यापकसाध्यसामानाधिकरण्यलक्षणाया व्याप्तेर्योग्यत्वाद् भूयोदर्शन-व्यभिचारादर्शनसहकृतेनेन्द्रियेण व्याप्तिग्रहोऽस्तु, सकलसाध्यसाधनव्यक्त्युपसंहार-स्यापि सामान्यलक्षणप्रत्यासत्त्या सम्भवादिति चेत्; न; 'तर्कयामि' इत्यनुभवसिद्धेन तर्केणैव सकलसाध्यसाधनव्यक्त्युपसंहारेण व्याप्तिग्रहोपपत्तौ सामान्यलक्षणप्रत्यासत्ति-कल्पने प्रमाणाभावात्, ऊहं विना ज्ञातेन सामान्येनापि सकलव्यक्त्यनुपस्थितेश्च । वाच्यवाचकभावोऽपि तर्केणैवावगम्यते, तस्यैव सकलशब्दार्थगोचरत्वात् । प्रयोजक-वृद्धोक्तं श्रुत्वा प्रवर्तमानस्य प्रयोज्यवृद्धस्य चेष्टामवलोक्य तत्कारणज्ञानजनकतां शब्दे-

---

व्याप्तिका ग्रहण होता तो है, अतः मानना पड़ेगा कि साध्य-साधनके दर्शन, स्मरण एवं प्रत्य-भिज्ञानकी सहायतासे उत्पन्न होनेवाला अर्थात् उपसंहार करनेवाला तर्क ही व्याप्तिका ज्ञान उत्पन्न करनेमें समर्थ होता है।

शङ्का– स्वाभाविक अव्यभिचाररूप व्याप्ति अगर प्रत्यक्षका विषय नहीं तो न सही, हेतु की अपने व्यापक साध्यके साथ समानाधिकरणता रूप व्याप्ति तो प्रत्यक्ष-योग्य है । क्योंकि इन्द्रिय–द्वारा भूयोदर्शन होता है और व्यभिचारका दर्शन कभी नहीं हुआ तथा सामान्यरूप प्रत्यासत्ति (संबंध) के द्वारा सकल साध्य–साधन रूप व्यक्तियोंका उपसंहार भी प्रत्यक्षसे संभव है। तात्पर्य यह है कि व्यक्तिनिष्ठ सामानाधिकरण्य, व्यक्ति यदि प्रत्यक्ष है तो, प्रत्यक्ष ही है । एक व्यक्तिगत सामानाधिकरण्यका इन्द्रियके साथ सन्निकर्ष लौकिक सन्निकर्ष है । किन्तु अनेक व्यक्तियोंमें समानरूपसे रहनेवाला सामान्य भी तो प्रत्यक्ष होता है और उसका कारण अलौकिक सन्निकर्ष है । अतएव उस अलौकिक सन्निकर्षके कारण साध्य-साधनभूत सकल व्यक्तियोंके सामानाधिकरण्यका भी उपसंहार प्रत्यक्ष ही कर लेगा । अतएव तर्कको पृथक् प्रमाण माननेकी आवश्यकता नहीं ।

समाधान–'तर्कयामि' इस प्रतीतिसे तर्क प्रमाण सिद्ध होता है । इसी तर्कसे समस्त साध्य-साधन व्यक्तियोंका उपसंहार हो कर व्याप्तिका ग्रहण होता है। आप जो सामान्यरूप प्रत्यासत्तिकी कल्पना करते हैं, उसकी कल्पनामें कोई प्रमाण नहीं है। सामान्यका ज्ञान हो जाने पर भी तर्कके विना समस्त व्यक्तियोंकी उपस्थिति ग्रहण होना संभव नहीं। वाच्य-वाचकभाव भी तर्क–द्वारा ही जाना जाता है, क्योंकि तर्क ही सकल वाच्यों और वाचकोंको विषय कर सकता है ।

कोई घटके वाच्य-वाचकभावको न जाननेवाला व्यक्ति [१]प्रयोजक वृद्धके मुखसे 'घट' शब्द सुनकर और [२]प्रयोज्य वृद्धकी किसी पदार्थको लानेकी चेष्टा देखकर यह जान लेता है

---

१ किसी जानकार ने किसी जानकारसे कहा–'घट लाओ' यहाँ आदेश देनेवाला प्रयोजकवृद्ध और २ आदेश का पालन करनेवाला प्रयोज्यवृद्ध है ।

ऽवधारयन्तो (यतो) ऽन्त्यावयवश्रवण-पूर्वावयवस्मरणोपजनितवर्णपदवाक्यविषयसङ्कलनात्मकप्रत्यभिज्ञानवत आवापोद्वापाभ्यां सकलव्यक्त्युपसंहारेण च वाच्यवाचकभावप्रतीतिदर्शनादिति। अयं च तर्कः सम्बन्धप्रतीत्यन्तरनिरपेक्ष एव स्वयोग्यतासामर्थ्यात्सम्बन्धप्रतीतिं च नयतीति नानवस्था।

प्रत्यक्षपृष्ठभाविविकल्परूपत्वान्नायं प्रमाणमिति बौद्धाः; तन्न; प्रत्यक्षपृष्ठभाविनो विकल्पस्यापि प्रत्यक्षगृहीतमात्राध्यवसायित्वेन सर्वोपसंहारेण व्याप्तिग्राहकत्वाभावात्। तादृशस्य तस्य सामान्यविषयस्याप्यनुमानवत् प्रमाणत्वात्, अवस्तुनिर्भासेऽपि परम्परया पदार्थप्रतिबन्धेन भवतां व्यवहारतः प्रामाण्यप्रसिद्धेः। यस्तु-अग्निधूमव्यतिरिक्तदेशे प्रथमं धूमस्यानुपलम्भ एकः, तदनन्तरमग्नेरुपलम्भस्ततो धूमस्ये-

---

कि 'घट' शब्द इस पदार्थका वाचक है। उसी समय वह घ्+अ+ट्+अके अन्तिम अवयव 'अ' का श्रवण करता है, पूर्व अवयव 'घ्' का स्मरण करता है। इस श्रवण और स्मरणसे उसे वर्ण, पद, वाक्य और विषयका संकलनात्मक प्रत्यभिज्ञान उत्पन्न होता है। तत्पश्चात् आवाप और उद्वापके द्वारा समस्त व्यक्तियोंका उपसंहार करके अर्थात् जो-जो घट शब्द होते हैं, वे सब घटपदार्थके वाचक होते हैं और जो-जो घट पदार्थ होते हैं, वे सब घट शब्दके वाच्य होते हैं, इस प्रकारके वाच्य-वाचकभावकी उसे प्रतीति होती है, ऐसा देखा जाता है।

यह तर्क प्रमाण किसी दूसरे संबंधके ज्ञानकी अपेक्षा न रखता हुआ अपने ही सामर्थ्यके बलसे अविनाभाव या वाच्य-वाचकभावका ज्ञान उत्पन्न कर देता है, अतएव अनवस्था दोषके लिए कोई अवकाश नहीं है।

बौद्ध कहते हैं– तर्क, प्रत्यक्षके पश्चात् होनेवाला विकल्परूप ज्ञान है, अतएव वह प्रमाण [1] नहीं है। उनका कहना ठीक नहीं। प्रत्यक्षके पश्चात् उत्पन्न होनेवाला विकल्प, प्रत्यक्ष द्वारा जाने हुए पदार्थको ही जान सकता है, उससे भिन्न पदार्थको नहीं; अतएव सर्वोपसंहार करके (समस्त धूम अग्निको व्याप्त करके) व्याप्तिका ग्राहक नहीं हो सकता। तर्क विकल्परूप होकर भी और सामान्यका ग्राहक होकर भी अनुमानकी तरह प्रमाण ही [2] है। अवस्तु (सामान्य) के ज्ञान (अनुमान) में भी, परम्परासे पदार्थ (विशेष) का संबंध होनेके कारण, बौद्धोंने प्रमाणता मानी है।

किसी की मान्यता है कि–अग्नि और धूमसे रहित प्रदेशमें किसीको पहले–पहल धूम का एक अनुपलंभ हुआ–अर्थात् धूम मालूम नहीं हुआ। उसके पश्चात् अग्निका उपलंभ हुआ और फिर धूम का उपलंभ हुआ, इस तरह दो उपलंभ हुए। तत्पश्चात् अग्निका अनुपलंभ हुआ

१— बौद्ध निर्विकल्प ज्ञानको ही प्रमाण मानते हैं। २– सामान्यका ज्ञापक होनेपर भी अनुमानको बौद्धोंने प्रमाण माना है।

त्युपलम्भद्वयम्, पश्चादग्नेरनुपलम्भोऽनन्तरं धूमस्याप्यनुपलम्भ इति द्वावनुपलम्भाविति प्रत्यक्षानुपलम्भपञ्चकाद्व्याप्तिग्रहः— इत्येतेषां सिद्धान्तः, तदुक्तम्—

"धूमाधीर्वह्निविज्ञानं धूमज्ञानमधीस्तयोः ।
प्रत्यक्षानुपलम्भाभ्यामिति पञ्चभिरन्वयः ।"

इति, स तु मिथ्या; उपलम्भानुपलम्भस्वभावस्य द्विविधस्यापि प्रत्यक्षस्य सन्निहित-मात्रविषयतयाऽविचारकतया च देशादिव्यवहितसमस्तपदार्थगोचरत्वायोगात् ।

यत्तु 'व्याप्यस्याहार्यारोपेण व्यापकस्याहार्यप्रसञ्जनं तर्कः । स च विशेषदर्शन-वद् विरोधिशङ्काकालीनप्रमाणमात्रसहकारी, विरोधिशङ्कानिवर्तकत्वेन तदनुकूल एव वा । न चायं स्वतः प्रमाणम्' इति नैयायिकैरिष्यते; तन्न; व्याप्तिग्रहरूपस्य तर्कस्य

और फिर धूमका भी अनुपलंभ हुआ । इस तरह दो अनुपलंभ हुए । इन पाँच प्रत्यक्ष एवं अनुपलंभरूप ज्ञानों से ही व्याप्ति का ग्रहण हो जाता है । आशय यह है कि वार-वार धूम और अग्नि को साथ-साथ देखने से और वार-वार दोनोंका ही अनुपलंभ होनेसे यह ज्ञान हो जाता है कि इनमें कोई संबंध है। मगर जब अग्निके दिखने पर भी धूम नहीं दिखता तो यह विशे-षता भी विदित हो जाती है कि धूमके विना अग्नि तो हो सकती है, पर अग्निके विना धूम नहीं होता । इस प्रकार जब प्रत्यक्ष और अनुपलंभसे ही व्याप्तिका ग्रहण हो जाता है तो उसे ग्रहण करने के लिए तर्क–नामक पृथक् प्रमाण मानना व्यर्थ है । उनका कहना है:—

धूम का ज्ञान न होना, अग्नि का ज्ञान होना और धूम का ज्ञान होना, तथा अग्नि और धूम दोनों का ज्ञान न होना—यह पाँच प्रकार का प्रत्यक्ष तथा अनुपलंभरूप ज्ञान ही व्याप्तिका निर्णायक हो जाता है।

उनका यह कथन मिथ्या है । चाहे उपलंभरूप प्रत्यक्ष हो, चाहे अनुपलंभरूप प्रत्यक्ष हो, दोनों ही प्रकार का प्रत्यक्ष इन्द्रिय–संबद्ध पदार्थको ही ग्रहण करता है और आगे–पीछे का विचार न करके वर्तमानका ही ग्राहक होता है । अतएव वह शेष–काल आदि से व्यव-हित समस्त पदार्थोंको विषय नहीं कर सकता ।

नैयायिकोंकी मान्यता यह है कि व्याप्यका *आहार्य आरोप करके व्यापकका आहार्य प्रसंग देना तर्क है । जैसे–'पर्वतमें यदि अग्नि न होती तो धूम भी न होता ।' यह तर्क है । 'तर्क' स्वतः प्रमाण नहीं है, वह प्रमाणका सहायक है या प्रमाणके अनुकूल है, इस कारण प्रमाणका अनुग्राहक मात्र है । स्थाणु और पुरुष–विषयक संशयकी अवस्थामें होनेवाला विशे-षका दर्शन जैसे इन्द्रियका सहकारी होता है या दूसरी कोटिका निवारक मात्र होता है। उसी प्रकार तर्क भी प्रमाणका सहायक होकर अथवा विरोधिशंकाको दूर करके प्रमाणके अनुकूल होता है । किन्तु वह स्वयं प्रमाण नहीं है । उनका यह कथन युक्ति-युक्त नहीं है ।

---

* बाधनिश्चयकालीन इच्छाजनितज्ञान आहार्य ज्ञान है।

स्वपरव्यवसायित्वेन स्वतः प्रमाणत्वात्, पराभिमततर्कस्यापि क्वचिदेतद्विचारांगतया, विपर्ययपर्यवसायिन आहार्यशङ्काविघटकतया, स्वातन्त्र्येण शङ्कामात्रविघटकतया वोपयोगात् । इत्थं चाज्ञाननिवर्तकत्वेन तर्कस्य प्रामाण्यं धर्मभूषणोक्तं सत्येव तन्न (तत्र) मिथ्याज्ञानरूपे व्यवच्छेद्ये संगच्छते, ज्ञानाभावनिवृत्तिस्त्वर्थज्ञातताव्यवहारनिबन्धन-स्वव्यवसितिपर्यवसितैव सामान्यतः फलमिति द्रष्टव्यम् ।

(४ अनुमानं द्वेधा विभज्य स्वार्थानुमानस्य लक्षणम् ।)

साधनात्साध्यविज्ञानम्–अनुमानम् । तद् द्विविधं स्वार्थं परार्थं च । तत्र हेतुग्रहण-सम्बन्धस्मरणकारणकं साध्यविज्ञानं स्वार्थम्, यथा गृहीतधूमस्य स्मृतव्याप्तिकस्य 'पर्वतो वह्निमान्' इति ज्ञानम् । अत्र हेतुग्रहण-सम्बन्धस्मरणयोः समुदितयोरेव कारण-त्वमवसेयम्, अन्यथा विस्मृताप्रतिपन्नसम्बन्धस्यागृहीतलिंगकस्य च कस्यचिदनुमानोत्पादप्रसंगात् ।

व्याप्तिको ग्रहण करना जिसका स्वरूप है, ऐसा यह तर्क स्व और परका व्यवसायी होनेसे स्वयं प्रमाण है । नैयायिकोंके माने हुए तर्कका भी कहीं-कहीं व्याप्तिके विचारके अंग रूपमें, आहार्यकी शंका अर्थात् 'पक्षमें हेतु हो किन्तु साध्य न हो' इस प्रकारके व्यभिचारकी आशङ्काके निवारकरूप में और जहाँ ऐसी शङ्का न हो वहाँ स्वतन्त्ररूप से शङ्का–निवारकके रूपमें उपयोग होता है ।

यदि शंकानिवारक होनेसे तर्ककी प्रमाणता स्वीकार की जाय तो आचार्य धर्मभूषणका कथन कैसे संगत होगा ? उन्होंने तो ('न्यायदीपिका'में) अज्ञाननिवर्त्तक होनेसे तर्ककी प्रमाणता कही है ? इसका उत्तर यह है कि धर्मभूषणने तर्कको अज्ञाननिवर्त्तक कहा है, सो वहाँ अज्ञानका अभिप्राय मिथ्याज्ञान समझना चाहिए । ऐसा माननेपर कोई असंगति नहीं रहती ।

अब रह गई यह बात कि यदि तर्क मिथ्याज्ञानका निवारक होनेसे प्रमाण है तो प्रमाणमात्रका अज्ञाननिवृत्तिरूप जो फल माना गया है, वह तर्कमें कैसे घटित होगा ? इसका उत्तर यह है कि जैनदर्शनमें सभी ज्ञान स्वव्यवसायी हैं, अतः तर्क भी स्वव्यवसायस्वरूप है और स्वव्यसाय ही वास्तवमें अज्ञान–निवृत्ति है और उसीके कारण ज्ञानमें अर्थज्ञानताका व्यवहार होता है । इस प्रकार तर्कमें भी अज्ञाननिवृत्तिरूप फल सिद्ध हो जाता है ।

४ — साधनसे साध्यका ज्ञान होना अनुमान है । अनुमान दो प्रकारका है—**(१) स्वार्थानुमान और (२) परार्थानुमान ।**

हेतुका ग्रहण (ज्ञान) होनेसे तथा व्याप्तिका स्मरण होनेसे साध्यका ज्ञान होना स्वार्थानुमान है । जैसे–धूमको प्रत्यक्ष जाननेवाले और धूम–अग्निकी व्याप्तिका स्मरण करनेवालेको 'यह पर्वत अग्निमान् है' ऐसा जो ज्ञान होता है, वह स्वार्थानुमान है । यहाँ स्वार्थानुमानके दो कारण बतलाए हैं–हेतुग्रहण और व्याप्तिस्मरण । यह दोनों मिलकर ही कारण होते हैं– अलग-अलग नहीं । अन्यथा जिसने व्याप्ति जानी ही नहीं है या जो जानकर भूल गया है, उसे भी अनुमान हो जायगा । अथवा जिसे व्याप्तिका स्मरण तो है मगर हेतुका

(हेतुस्वरूपचर्चा ।)

निश्चितान्यथानुपपत्त्येकलक्षणो हेतुः, न तु त्रिलक्षणकादिः । तथाहि त्रिलक्षण एव हेतुरिति बौद्धाः । पक्षधर्मत्वाभावेऽसिद्धत्वव्यवच्छेदस्य, सपक्ष एव सत्त्वाभावे च विरुद्धत्वव्युदासस्य, विपक्षेऽसत्त्वनियमाभावे चानैकान्तिकत्वनिषेधस्यासम्भवेनानुमित्यप्रतिरोधानुपपत्तेरिति; तन्न; पक्षधर्मत्वाभावेऽपि उदेष्यति शकटं कृत्तिकोदयाद्, उपरि सविता भूमेरालोकवत्त्वाद्, अस्ति नभश्चन्द्रो जलचन्द्रादित्याद्यनुमानदर्शनात् । न चात्रापि 'कालाकाशादिकं भविष्यच्छकटोदयादिमत् कृत्तिकोदयादिमत्त्वात्' इत्येवं पक्षधर्मत्वोपपत्तिरिति वाच्यम्; अननुभूयमानधर्मिविषयत्वेनेत्थं पक्षधर्मत्वोपपादने जगद्धर्म्यपेक्षया काककार्ष्ण्येन प्रासादधावल्यस्यापि साधनोपपत्तेः ।

ग्रहण नहीं हो रहा है, उसे भी अनुमान हो जायगा। मगर इनको अनुमान हो नहीं सकता। आशय यह है कि धूमका प्रत्यक्ष भी हो और अविनाभावका स्मरण भी हो, तभी अनुमान हो सकता है।

[हेतु-स्वरूप]

निश्चित रूपसे अन्यथानुपपत्ति ही जिसका एक मात्र लक्षण है, वही हेतु है। अर्थात् हेतुका एक ही लक्षण है और वह है अन्यथानुपपत्ति–साध्यके अभावमें न होना। हेतु तीन लक्षणवाला या पाँच लक्षणवाला नहीं होता।

बौद्धमतके अनुसार हेतु त्रिलक्षणक होता है– (१) पक्षधर्मत्व (२) सपक्षसत्त्व और (३) विपक्षव्यावृत्ति, यह तीन हेतुके लक्षण हैं। इनमेंसे पक्षधर्मत्वके अभावमें हेतुकी असिद्धता नहीं टल सकती, सपक्षमें ही सत्त्व हुए विना विरुद्धता नहीं टल सकती और विपक्षमें असत्त्व हुए विना अनैकान्तिकता नहीं टल सकती। और इन तीनों दोषोंके अभावके विना अनुमानकी उत्पत्ति नहीं हो सकती।

बौद्धोंका यह कथन ठीक नहीं। पक्षधर्मता अर्थात् हेतुके पक्षमें रहनेके अभावमें भी ये अनुमान देखे जाते हैं–(१) एक मुहूर्त्तके बाद शकट (रोहिणी) नक्षत्रका उदय होगा, क्योंकि इस समय कृत्तिकाका उदय है। (२) ऊपर सूर्य है, क्योंकि पृथ्वी प्रकाशमय है। (३) आकाशमें चन्द्रमा है, क्योंकि जलमें चन्द्रमा है। यहाँ तीनों हेतु पक्षमें नहीं रहते, अतः पक्षधर्मता नहीं है; फिर भी ये गमक हैं।

शङ्का– यहाँ दूसरी तरहसे अनुमान–वाक्यकी रचना करके पक्षधर्मत्व घटाया जा सकता है। जैसे– काल या आकाश, भविष्यमें होनेवाले शकट नक्षत्रके उदयवाला है, क्योंकि कृत्तिकाका उदयवाला है। इस प्रकारकी कल्पना करके पक्षधर्मत्व यहाँ भी घटाया जा सकता है। यहाँ कृत्तिकोदयवत्त्व हेतु पक्ष (काल या आकाशका) धर्म है।

समाधान–इस प्रकारसे अनुभवमें न आनेवाले पक्षकी कल्पना करके अगर आप पक्ष–

ननु यद्येवं पक्षधर्मताऽनुमितौ नांगं तदा कथं तत्र पक्षभाननियम इति चेत्; क्वचिदन्यथाऽनुपपत्त्यवच्छेदकतया ग्रहणात् पक्षभानं यथा नभश्चन्द्रास्तित्वं विना जलचन्द्रोऽनुपपन्न इत्यत्र, क्वचिच्च हेतुग्रहणाधिकरणतया यथा पर्वतो वह्निमान् धूमवत्त्वादित्यत्र धूमस्य पर्वते ग्रहणाद्वह्नेरपि तत्र भानमिति । व्याप्तिग्रहवेलायां तु पर्वतस्य सर्वत्रानुवृत्त्यभावेन न ग्रह इति ।

यत्तु अन्तर्व्याप्त्या पक्षीयसाध्यसाधनसम्बन्धग्रहात् पक्षसाध्यसंसर्गभानम्, तदुक्तम्–"पक्षीकृत एव विषये साधनस्य साध्येन व्याप्तिरन्तर्व्याप्तिः, अन्यत्र तु बहिर्व्याप्तिः" (प्र. न. ३. ३८) **इति; तन्न; अन्तर्व्याप्त्या हेतोः साध्यप्रत्यायनशक्तौ सत्यां बहिर्व्याप्तेरुद्भावनव्यर्थत्वप्रतिपादनेन तस्याः स्वरूपप्रयुक्त (क्ता) व्यभिचारलक्षणत्वस्य, बहिर्व्याप्तेश्च सहचारमात्रत्वस्य लाभात्, सार्वत्रिक्या व्याप्तेर्विषयभेदमात्रेण भेदस्य दुर्वचत्वात् । न चेदेवं तदान्तर्व्याप्तिग्रहकाल एष एव (काल एव)**

धर्मत्व घटित करेंगे तो जगत्को पक्ष बनाकर काककी कृष्णतारूप हेतुसे प्रासादकी धवलता भी सिद्ध हो जायगी । अर्थात् यह जगत् प्रासादकी धवलतावान् है, क्योंकि काककी कृष्णतावान् है, यहाँ भी पक्षधर्मत्व घटित हो जायगा ।

शङ्का– अगर पक्षधर्मता अर्थात् हेतुका पक्षके धर्मरूपसे होना, यह अनुमितिका अंग नहीं है तो अनुमितिमें पक्षके ज्ञानका नियम कैसे सिद्ध होगा ?

समाधान—पक्षका ज्ञान कहीं-कहीं अन्यथानुपपत्तिके अवच्छेदक–विशेषणरूपमें हो जाता है, जैसे–'आकाश-चन्द्रके विना जल-चन्द्र संभव नहीं', यहाँ पर होता है । कहीं-कहीं हेतु–ग्रहणके आधारके रूपमें पक्षका ज्ञान हो जाता है । 'जैसे-पर्वत अग्निमान् है, क्योंकि धूमवान् हैं', इस स्थलपर धूमका पर्वतमें ग्रहण होता है, अतः अग्निका भी पर्वतमें ही भान होता है । हाँ, व्याप्ति-ग्रहणके समय पर्वतकी सर्वत्र अनुवृत्ति नहीं, अतः वहाँ उसका भान भी नहीं होता । कोई कहते हैं– अन्तर्व्याप्तिके द्वारा पक्षगत साध्य–साधनसंबंधका ग्रहण होनेसे पक्ष और साध्यके संसर्गका भान हो जाता है । कहा भी है– पक्ष बनाये हुए ही विषयमें साधनकी साध्यके साथ व्याप्ति होना अन्तर्व्याप्ति है, और पक्षसे भिन्न विषयमें साधनकी साध्यके साथ व्याप्ति होना वहिर्व्याप्ति है । यह मान्यता संगत नहीं है; क्योंकि अन्तर्व्याप्ति के द्वारा हेतुकी साध्यको बतलानेकी शक्ति होनेपर बहिर्व्याप्तिका प्रकट करना (कहना) व्यर्थ बतलाया गया है । इससे यही लब्ध होता है कि अन्तर्व्याप्ति स्वाभाविक अव्यभिचार वाली है और वहिर्व्याप्ति उसकी सहचारिणी मात्र है । सर्वत्र–समस्त व्यक्तियोंमें समान रूपसे रहनेवाली व्याप्तिमें सिर्फ विषयके भेदसे भेद करना योग्य नहीं । अगर अन्तर्व्याप्तिमें पक्ष–धर्मत्वका भान होता ही है, ऐसा माना जाय तो अन्तर्व्याप्तिका ज्ञान होते समय ही यह

पक्षसाध्यसंसर्गभानादनुमानवैक(फ)ल्यापत्तिः विना पर्वतो वह्निमानित्युद्देश्यप्रतीतिमिति यथातन्त्रं भावनीयं सुधीभिः। इत्थं च 'पक्वान्येतानि सहकारफलानि एकशाखाप्रभवत्वाद् उपयुक्तसहकारफलवदित्यादौ बाधितविषये, मूर्खोऽयं देवदत्तः तत्पुत्रत्वात् इतरतत्पुत्रवदित्यादौ सत्प्रतिपक्षे चातिप्रसंगवारणाय अबाधितविषयत्वासत्प्रतिपक्षत्वसहितं प्रागुक्तरूपत्रयमादाय पाञ्चरूप्यं हेतुलक्षणम्, इति नैयायिकमतमप्यपास्तम्; उदेष्यति शकटमित्यादौ पक्षधर्मत्वस्यैवासिद्धेः, स श्यामस्तत्पुत्रत्वादित्यत्र हेत्वाभासेऽपि पाञ्चरूप्यसत्त्वाच्च, निश्चितान्यथानुपपत्तेरेव सर्वत्र हेतुलक्षणत्वौचित्यात्।

(साध्यस्वरूपचर्चा।)

ननु हेतुना साध्यमनुमातव्यम्। तत्र किंलक्षणं साध्यमिति चेत्; उच्यते अप्रतीतमनिराकृतमभीप्सितं च साध्यम्। शङ्कितविपरीतानध्यवसितवस्तूनां साध्यता-

---

पर्वत अग्निमान् है, इस उद्देश्यप्रतीतिके विना ही पक्ष और साध्यके संसर्गका (पर्वतमें अग्निके अस्तित्वका) भान हो जायगा; ऐसी स्थितिमें अनुमानकी कोई सार्थकता नहीं रहेगी। इस विषयमें विद्वानोंको शास्त्रानुसार स्वयं ही विचार करलेना चाहिए।

नैयायिकोंकी मान्यताके अनुसार हेतुमें पाँच लक्षण होने चाहिए। पूर्वोक्त तीन लक्षणोंमें [1]अबाधितविषयत्व और [2]असत्प्रतिपक्षत्वको मिला देनेसे हेतुके पाँच लक्षण होते हैं। 'यह आम्रफल पके हुए हैं, क्योंकि एक ही शाखामें उत्पन्न हुए हैं' इत्यादि बाधितविषयमें हेतुका अतिप्रसंग रोकनेके लिए अबाधितविषयत्व आवश्यक है। तथा 'यह देवदत्त मूर्ख है, क्योंकि अमुकका पुत्र है, अन्य पुत्रोंके समान।' इस प्रकारके सत्प्रतिपक्ष हेतुओंमें अतिप्रसंग रोकनेके लिए असत्प्रतिपक्षत्वको हेतुका लक्षण मानना आवश्यक है।

नैयायिकोंकी यह मान्यता भी बौद्धमतकी मान्यताका निरास करनेसे ही निरस्त हो जाती है। क्योंकि शकटका उदय होगा, कारण इस समय कृत्तिकाका उदय है, इत्यादि हेतुओंमें पक्षधर्मत्व ही सिद्ध नहीं है।

इसके अतिरिक्त गर्भस्थ मैत्र-पुत्र, श्याम है, क्योंकि वह मैत्रका पुत्र है; यहाँ हेत्वाभासमें भी पाँचों लक्षण विद्यमान हैं। आशय यह है कि कहीं-कहीं समीचीन हेतुमें भी पाँच लक्षण नहीं होते अतः हेतुके उक्त लक्षणोंमें अव्याप्ति दोष आता है और कहीं-कहीं हेत्वाभासमें भी वे पाये जाते हैं, इस कारण अतिव्याप्ति दोष आता है। अतएव निश्चित अन्यथानुपपत्तिको ही हेतुका लक्षण मानना उचित है।

साध्यः—हेतुके द्वारा साध्यका अनुमान किया जाता है। तो साध्य किसे कहते हैं? इस प्रश्नका उत्तर यह है—जो अप्रतीत हो अर्थात् प्रतिवादीको सिद्ध न हो, जो अनिराकृत हो अर्थात् प्रमाणसे बाधित न हो और अभीप्सित हो अर्थात् वादीको सिद्ध हो, वह साध्य कहलाता है।

---

१ प्रत्यक्षादि किसी प्रमाणसे साध्यमें बाधा न आना। २ समान बलशाली विरोधी हेतुका न होना।

प्रतिपत्त्यर्थमप्रतीतमिति विशेषगम्। प्रत्यक्षादिविरुद्धस्य साध्यत्वं मा प्रसाङ्क्षीदित्यनिराकृतग्रहणम्। अनभिमतस्यासाध्यत्वप्रतिपत्तयेऽभीप्सितग्रहणम्।

कथायां शङ्कितस्यैव साध्यस्य साधनं युक्तमिति कश्चित्; तन्न; विपर्यस्ताव्युत्पन्नयोरपि परपक्षदिदृक्षादिना कथायामुपसर्पणसम्भवेन संशयनिरासार्थमिव विपर्ययानध्यवसायनिरासार्थमपि प्रयोगसम्भवात्, पित्रादेर्विपर्यस्ताव्युत्पन्नपुत्रादिशिक्षणप्रदानदर्शनाच्च। न चेदेवं जिगीषुकथायामनुमानप्रयोग एव न स्यात्, तस्य साभिमानत्वेन विपर्यस्तत्वात्।

अनिराकृतमिति विशेषणं वादिप्रतिवाद्युभयापेक्षया, द्वयोः प्रमाणेनाबाधितस्य कथायां साध्यत्वात्। अभीप्सितमिति तु वाद्यपेक्षयैव, वक्तुरेव स्वाभिप्रेतार्थप्रतिपादनायेच्छासम्भवात्। ततश्च परार्थाश्चक्षुरादय इत्यादौ पारार्थ्यमात्राभिधानेऽप्यात्मार्थत्वमेव सायं (०मेव साध्यं) सिध्यति। अन्यथा संहतपरार्थत्वेन बौद्धैश्चक्षु-

---

जिसमें शंका हो, विपरीत ज्ञान हो रहा हो या अनध्यवसाय हो वही वस्तु साध्य होती है, यह सूचित करनेके लिए 'अप्रतीत' पदका प्रयोग किया है। जो प्रत्यक्ष आदिसे बाधित है—वह साध्य न हो जाय, यह सूचित करने के लिए 'अनिराकृत' पद रक्खा है। जिसे वादी स्वयं ही स्वीकार नहीं करता, उसकी असाध्यता प्रकट करनेके लिए 'अभीप्सित' पदका प्रयोग किया गया है।

किसी—किसी का कहना है कि कथा (वाद) में संदिग्ध साध्य को सिद्ध करना ही उचित है; किन्तु यह कथन ठीक नहीं। क्यों कि विपर्यस्त (विपरीत धारणा वाला) और अव्युत्पन्न (जिसे किसी पक्ष का ज्ञान न हो वह) भी परकीय पक्षको देखने—जाननेकी इच्छासे वादमें उतर सकता है। अतएव जैसे संशयका निवारण करनेके लिए अनुमान—प्रयोग किया जाता है, उसी प्रकार विपर्यय और अनध्यवसायका निवारण करनेके लिए भी अनुमानका प्रयोग हो सकता है। लोक में भी माता—पिता आदि अपने विपर्यस्त और अव्युत्पन्न पुत्र आदिको शिक्षा देते देखे जाते हैं। अगर ऐसा न माना जाय तो जिगीषुवादमें अनुमानका प्रयोग ही नहीं होना चाहिए, क्योंकि जिगीषुकथामें प्रतिवादी अभिमान— युक्त होनेके कारण विपर्यस्त होता है—संदेहग्रस्त नहीं होता।

साध्यके लक्षणमें 'अनिराकृत' विशेषण वादी और प्रतिवादी दोनोंकी अपेक्षा है। जो प्रमाणसे बाधित न हो उसे ही दोनोंको साध्य बनाना चाहिए।

'अभीप्सित' विशेषण सिर्फ वादी की अपेक्षासे है; क्योंकि वादीकी ही अपने इष्ट अर्थका प्रतिपादन करनेकी इच्छा हो सकती है। अतएव 'चक्षु आदि इन्द्रियाँ परार्थ हैं, इस स्थल पर सामान्य रूप से परार्थ मात्र कहने पर भी 'आत्मार्थ साध्य होता है। यहाँ 'परार्थ'

रादीनामभ्युपगमा (त् साधनवैफल्या) दित्यनन्वयादिदोषदुष्टमेतत्सांख्यसाधनमिति वदन्ति । स्वार्थानुमानावसरेऽपि परार्थानुमानोपयोग्यभिधानम्, परार्थस्य स्वार्थपुरः-सरत्वेनानतिभेदज्ञापनार्थम् ।

व्याप्तिग्रहणसमयापेक्षया साध्यं धर्म एव, अन्यथा तदनुपपत्तेः, आनुमानिक-प्रतिपत्त्यवसरापेक्षया तु पक्षापरपर्यायस्तद्विशिष्टः प्रसिद्धो धर्मी । इत्थं च स्वार्थानु-मानस्य त्रीण्यङ्गानि धर्मी साध्यं साधनं च । तत्र साधनं गमकत्वेनांगम्, साध्यं तु गम्यत्वेन, धर्मी पुनः साध्यधर्माधारत्वेन, आधारविशेषनिष्ठतया साध्याद्धे (साध्य-सिद्धे)-रनुमानप्रयोजनत्वात् । अथवा पक्षो हेतुरित्यंगद्वयं स्वार्थानुमाने, साध्यधर्मवि-शिष्टस्य धर्मिणः पक्षत्वात् इति धर्मधर्मिभेदाभेदविवक्षया पक्षद्वयं द्रष्टव्यम् ।

का अभिप्राय 'आत्मार्थ' न माना जाय तो यह अनुमान ही व्यर्थ हो जाएगा, क्यों कि चक्षु आदि इन्द्रियोंको संहतपरार्थ रूपमें तो बौद्ध भी स्वीकार करते ही हैं, किन्तु वे पर अर्थात् आत्माको नहीं मानते अतएव इस अनुमानके द्वारा आत्मसिद्धि कराना सांख्यको इष्ट है। बौद्ध सांख्यके इस साधनको अनन्वय आदि दोषोंसे दुष्ट कहते हैं। तात्पर्य यह है कि साध्य वादीकी इच्छानुरूप ही होता है। इसी कारण आत्माका अस्तित्व सिद्ध करनेके लिए सांख्य जब कहता है कि चक्षु आदि परार्थ हैं, तो उसका अर्थ 'आत्मार्थ है; यही समझा जाता है ।

स्वार्थानुमानके प्रकरणमें परार्थानुमानके समय उपयोगी होनेवाले विषयका कथन यह दिखलानेके लिए किया है कि परार्थानुमान, स्वार्थानुमान-पूर्वक होता है; अतः दोनोंमें बहुत अधिक अन्तर नहीं है।

व्याप्तिग्रहण के समय की अपेक्षा धर्म ही साध्य होता है । उस समय अगर धर्म को ही साध्य न बनाया जाय और धर्मी (पक्ष-पर्वत) को भी साध्य बना लिया जाय तो व्याप्ति बन नहीं सकेगी । जैसे-जहाँ धूम होता है वहाँ अग्नि होती है, इस तरह व्याप्ति बनती है, परन्तु जहाँ धूम होता है, वहाँ पर्वतमें अग्नि होती है, ऐसी व्याप्ति नहीं बन सकती ।

अनुमान करते समय साध्यधर्मसे युक्त धर्मी साध्य होता है । धर्मीको पक्ष भी कहते हैं और वह धर्मी प्रसिद्ध होता है । (अनुमान करते समय सिर्फ यही कहा जाय कि-अग्नि है, क्यों कि धूम है तो यह कहना चूक हो जायगा, क्यों कि इससे अग्नि सामान्य की ही सिद्धि होगी और उसे सिद्ध करना व्यर्थ है-वह तो सिद्ध ही है ।)

इस प्रकार स्वार्थानुमान के तीन अंग हैं-धर्मी, साध्य और साधन । साधन गमक होने के कारण, साध्य गम्य होने के कारण और धर्मी साध्य का आधार होने के कारण अंग हैं । किसी खास आधार में ही साध्य को सिद्ध करना अनुमान का प्रयोजन होता है ।

अथवा-स्वार्थानुमानमें पक्ष और हेतु यही दो अंग होते हैं; क्यों कि साध्य धर्मसे युक्त धर्मी पक्ष कहलाता है। इस प्रकार धर्म और धर्मीके भेदकी विवक्षाकी जाय तो तीन

धर्मिणः प्रसिद्धिश्च क्वचित्प्रमाणात् क्वचिद्विकल्पात् क्वचित्प्रमाणविकल्पाभ्याम्। तत्र निश्चितप्रामाण्यकप्रत्यक्षाद्यन्यतमावधृतत्वं प्रमाणप्रसिद्धत्वम्। अनिश्चितप्रामाण्याप्रामाण्यप्रत्ययगोचरत्वं विकल्पप्रसिद्धत्वम् । तद्द्वयविषयत्वं प्रमाणविकल्पप्रसिद्धत्वम् । तत्र प्रमाणसिद्धो धर्मी यथा धूमवत्त्वादग्निमत्त्वे साध्ये पर्वतः, स खलु प्रत्यक्षेणानुभूयते । विकल्पसिद्धो धर्मी यथा सर्वज्ञोऽस्ति सुनिश्चितासम्भवद्बाधकप्रमाणत्वादित्यस्तित्वे साध्ये सर्वज्ञः, अथवा खरविषाणं नास्तीति नास्तित्वे साध्ये खरविषाणम्। अत्र हि सर्वज्ञखरविषाणे अस्तित्वनास्तित्वसिद्धिभ्यां प्राग् विकल्पसिद्धे। उभयसिद्धो धर्मी यथा शब्दः परिणामी कृतकत्वादित्यत्र शब्दः, स हि वर्तमान (नः) प्रत्यक्षगम्यः, भूतो भविष्यंश्च विकल्पगम्यः, स सर्वोऽपि धर्मीति प्रमाणविकल्पसिद्धो धर्मी। प्रमाणोभयसिद्धयोर्धर्मिणोः साध्ये कामचारः । विकल्पसिद्धे तु धर्मिणि सत्तासत्तयोरेव साध्यत्वमिति नियमः। तदुक्तम् "विकल्पसिद्धे तस्मिन् सत्तेतरे साध्ये" (परी. ३. २३) इति ।

अंग हैं और अभेदकी विवक्षा करके पक्षको अंग माना जाय तो दो ही अंग हैं; यह दोनों ही पक्ष समझ लेना चाहिए।

धर्मीकी सिद्धि कहीं प्रमाणसे, कहीं विकल्पसे और कहीं प्रमाण–विकल्प–दोनोंसे होती है। जिसकी प्रमाणता निश्चित है ऐसे प्रत्यक्ष आदिमेंसे किसी भी प्रमाणसे जो निश्चत हो वह प्रमाण-सिद्ध धर्मी कहलाता है। जिनकी न प्रमाणता सिद्ध है और न अप्रमाणता ही सिद्ध है, ऐसे ज्ञानसे जो सिद्ध हो वह विकल्पसिद्ध धर्मी कहलाता है। जो प्रमाण और विकल्प–दोनोंसे सिद्ध हो उसे, उभयसिद्ध धर्मी कहते हैं। 'पर्वत अग्निमान् है, क्यों कि धूमवान् है, यहाँ पर्वत प्रमाणसिद्ध धर्मी है, क्यों कि पर्वत प्रत्यक्ष प्रमाणसे दिखाई देता है।

'सर्वज्ञ है, क्यों कि बाधक प्रमाणोंका अभाव सुनिश्चित है।' यहाँ अस्तित्व साध्यमें 'सर्वज्ञ विकल्प–सिद्ध धर्मी है। या खरविषाण नहीं है; यहाँ नास्तित्व साध्यमें खरविषाण विकल्पसिद्ध धर्मी है। यहाँ सर्वज्ञ और खरविषाणमें अस्तित्व और नास्तित्वकी सिद्धि होने से पहले वे विकल्पसिद्ध हैं।

'शब्द परिणामी है, क्यों कि कृतक है; यहाँ शब्द धर्मी उभय-सिद्ध है। क्यों कि वर्त्तमानकालीन शब्द प्रत्यक्षसिद्ध है और भूत–भविष्यत्कालीन विकल्पसिद्ध है।

प्रमाणसिद्ध और विकल्पसिद्ध धर्मीमें इच्छानुसार किसी भी धर्मको साध्य बनाया जा सकता है; किन्तु विकल्पसिद्ध धर्मीमें सत्ता या असत्ता ही साध्य होते हैं। ऐसा नियम है। परीक्षामुखमें कहा भी है–'विकल्पसिद्ध धर्मीमें सत्ता और असत्ता ही साध्य होते हैं।'

अत्र बौद्धः सत्तामात्रस्यानभीप्सितत्वाद्विशिष्टसत्तासाधने वानन्वयाद्विकल्पसिद्धे धर्मिणि न सत्ता साध्येत्याह; तदसत्; इत्थं सति प्रकृतानुमानस्यापि भङ्गप्रसङ्गात्, वह्निमात्रस्यानभीप्सितत्वाद्विशिष्टवह्नेश्चानन्वयादिति। अथ तत्र सत्तायां साध्यायां तद्धेतुः-भावधर्मः, भावाभावधर्मः, अभावधर्मो वा स्यात्? आद्येऽसिद्धिः, असिद्धसत्ताके भावधर्मासिद्धेः। द्वितीये व्यभिचारः, अस्तित्वाभाववत्यपि वृत्तेः। तृतीये च विरोधाभा (विरोधोऽभा) वधर्मस्य भावे क्वचिदप्यसम्भवात्, तदुक्तम्–

"नासिद्धे भावधर्मोऽस्ति व्यभिचार्युभयाश्रयः।
धर्मो विरुद्धोऽभावस्य सा सत्ता साध्यते कथम्?॥" (प्रमाणवा० १.१९२)

इति चेत्; न; इत्थं वह्निमद्धर्मत्वादिविकल्पैर्धूमेन वह्न्यनुमानस्याप्युच्छेदापत्तेः।

विकल्पस्याप्रमाणत्वाद्विकल्पसिद्धो धर्मो नास्त्येवेति नैयायिकः। तस्येत्थं वचनस्यैवानुपपत्तेस्तूष्णीम्भावापत्तिः, विकल्पसिद्धधर्मिणोऽप्रसिद्धौ तत्प्रतिषेधानुपपत्तेरिति।

इदं त्ववधेयम्–विकल्पसिद्धस्य धर्मिणो नाखण्डस्यैव भानमसत्ख्यातिप्रसंगा-

---

बौद्धोंने परस्पर विलक्षण, क्षणिक, निरंश और विशेष पदार्थोंको ही वास्तविक तत्त्व स्वीकार किया है। वे सत्ता (सामान्य) को स्वीकार नहीं करते। अतः कहते हैं–विकल्पसिद्ध धर्मी में जो सत्ता सिद्ध की जाती है, वह सामान्य सत्ता है या विशिष्ट सता? सामान्य सत्ता सिद्ध करना अभीष्ट नहीं है और विशिष्ट सत्ता सिद्ध की जायगी तो अन्वय (व्याप्ति) नहीं बनेगी। अतएव विकल्पसिद्ध धर्मीमें सत्ता साध्य नहीं हो सकती। उनका यह कहना असत् है। इस प्रकार तो धूमसे अग्निके अनुमानका भी अभाव हो जायगा। वहाँ भी यही कहा जा सकता है कि धूम हेतुसे अग्नि–सामान्य सिद्ध करना है या कोई विशिष्ट अग्नि? सामान्य अग्नि सिद्ध करना अभीष्ट नहीं, क्यों कि वह तो सिद्ध ही है। विशिष्ट अग्निको सिद्ध करना है तो व्याप्ति नहीं बन सकती। अर्थात् जहाँ धूम होता है, वहाँ विशेष अग्नि (पर्वतनिष्ठ अग्नि) होती है, ऐसा अन्वय नहीं बन सकता।

नैयायिकका कथन है–'विकल्प अप्रमाण होता है, अतएव विकल्पसिद्ध धर्मी नहीं हो सकता, अर्थात् जब विकल्प स्वयं अप्रमाण है तो उससे धर्मीकी सिद्धि कैसे हो सकती है? मगर उसका इस प्रकार कहना ही संगत नहीं है। यदि विकल्पसिद्ध धर्मी नहीं है तो उसका निषेध करनेके लिए उसे मौन ही रहना चाहिए। विकल्पसिद्ध धर्मीकी प्रसिद्धिके अभाव में उसका निषेध भी नहीं हो सकता। तात्पर्य यह है–'विकल्पसिद्ध धर्मी नहीं है' इस प्रति–ज्ञावाक्यमें 'विकल्पसिद्ध धर्मी' स्वयं विकल्पसिद्ध धर्मी है। उसे स्वीकार किये विना उसका निषेध नहीं हो सकता।

यहाँ ध्यान देने योग्य तथ्य यह है–विकल्पसिद्ध धर्मीका ज्ञान तीन प्रकारसे हो सकता है–अखण्ड रूपसे, विशिष्ट रूपसे या खण्डशः प्रसिद्ध रूपसे। अखण्ड रूपसे उसका ज्ञानमाननेसे असत्व्याप्तिका प्रसंग आता है (वह जैनसिद्धान्तसे विरुद्ध है, क्योंकि जैनदर्शनने असत्का

दिति, शब्दादेर्विशिष्टस्य तस्य (भा) नाभ्युपगमे विशेषणस्य संशयेऽभावनिश्चये वा वैशिष्ट्यभा(ना) नुपपत्तेः विशेषणाद्यंशे आहार्यारोपरूपा विकल्पात्मिकैवानुमितिः स्वीकर्तव्या, देशकालसत्तालक्षणस्यास्तित्वस्य, सकलदेशकालसत्ताऽभावलक्षणस्य च नास्तित्वस्य साधनेन परपरिकल्पितविपरीतारोपव्यवच्छेदमात्रस्य फलत्वात् ।

वस्तुतस्तु खण्डशः प्रसिद्धपदार्थाऽस्तित्वनास्तित्वसाधनमेवोचितम् । अतएव "असतो नत्थि णिसेहो" (विशेषा० गा० १५७४) इत्यादि भाष्यग्रन्थे खरविषाणं नास्तीत्यत्र 'खरे विषाणं नास्ति' इत्येवार्थ उपपादितः । एकान्तनित्यमर्थक्रियासमर्थं न भवति क्रमयौगपद्याभावादित्यत्रापि विशेषावमर्शदशायां क्रमयौगपद्यनिरूपकत्वाभावेनार्थक्रियानियामकत्वाभावो नित्यत्वादौ सुसाध (ध्य) इति सम्यग्निभालनीयं स्वपरसमय दत्तदृष्टिभिः ।

ज्ञान स्वीकार नहीं किया है) शब्द या व्याप्तिज्ञान आदिसे, विशिष्ट विकल्प सिद्ध धर्मीका ज्ञान मानने पर उसके विशेषणमें [१]संशय होनेपर या [२]अभावका निश्चय होनेपर विशिष्टताका ज्ञान होना संभव नहीं है, तथापि विशेषणादि अंशमें [३]आहार्यारोप रूप विकल्पात्मक अनुमिति स्वीकार करना चाहिए। अमुक देश या कालमें सत्तारूप अस्तित्व और सकल देश तथा कालमें अभाव रूप नास्तित्वको सिद्ध करनेसे अन्यकल्पित विपरीत समारोपका निराकरण हो जाता है। यही विकल्पसिद्धधर्मीको स्वीकार करनेका फल है।

वास्तवमें तो खण्डशः प्रसिद्ध पदार्थका अस्तित्व या नास्तित्व (जैसे प्रसिद्ध शृंग अंशमें प्रसिद्ध शशीयत्वका अभाव) सिद्ध करना ही उचित है, अर्थात् पूर्वोक्त तीन पक्षोंमेंसे तीसरा पक्ष ही सर्वथा निर्दोष है। 'असतो नत्थि णिसेहो' इत्यादि भाष्यगाथामें 'खरविषाणं नास्ति' इस वाक्यका 'खरमें या खरके मस्तकपर विषाण नहीं हैं,' ऐसा ही अर्थ प्रतिपादित किया गया है।

'एकान्त नित्य पदार्थ अर्थक्रिया करनेमें समर्थ नहीं है, क्योंकि उसमें क्रम और यौगपद्यका अभाव है, इस अनुमानमें, विशेष धर्मोंके परामर्शकी दशामें क्रम और यौगपद्यके अभावमें अर्थक्रिया नियामकत्वका अभाव एकान्त नित्यत्व आदिमें विना किसी कठिनाईके साधा जा सकता है। तात्पर्य यह है कि जैनदर्शनमें यद्यपि एकान्त नित्य पदार्थ सिद्ध नहीं है, किन्तु उसे विकल्पसिद्ध मानकर एकान्त नित्य पदार्थमें अर्थक्रियाका अभाव सिद्ध करनेमें कोई कठिनाई नहीं हो सकती। अर्थात् किसी पदार्थकी सत्ता अर्थक्रियासे सिद्ध होती है और अर्थक्रिया क्रम या यौगपद्यसे सिद्ध होती है। अतएव यदि क्रम और यौगपद्यका अभाव हो तो अर्थक्रिया नहीं और अर्थक्रिया न हो तो सत्ता नहीं। इस न्यायसे नित्य पदार्थमें अर्थक्रियाका अभाव सिद्ध करना सरल है। इस विषयमें स्वसमय और परसमय पर दृष्टि रखने वालोंको सम्यक् प्रकारसे विचार करना चाहिए।

---

१ शशके विषाण होते हैं या नहीं, ऐसा सन्देह। २ शशके विषाण नहीं होते, इस प्रकार अभावका निश्चय। ३ बाधकालीन इच्छाजन्य ज्ञान शृंगमें शशीयत्वका ज्ञान हो ऐसी इच्छासे उत्पन्न होनेवाला ज्ञान।

(परार्थानुमानस्य प्रतिपादनम्)

परार्थं पक्षहेतुवचनात्मकमनुमानमुपचारात्, तेन श्रोतुरनुमानेनार्थबोधनात्। पक्षस्य विवादादेव गम्यमानत्वादप्रयोग इति सौगतः; तन्न; यत्किञ्चिद्वचनव्यवहितात् ततो व्युत्पन्नमतेः पक्षप्रतीतावप्यन्यान् प्रत्यवश्यनिर्देश्यत्वात् प्रकृतानुमानवाक्यावयवान्तरैकवाक्यतापन्नात्तोऽवगम्यमानस्य पक्षस्याप्रयोगस्य चेष्टवात्। अवश्यं चाभ्युपगन्तव्यं हेतोः प्रतिनियतधर्मिधर्मताप्रतिपत्त्यर्थमुपसंहारवचनवत् साध्यस्यापि तदर्थं पक्षवचनं ताथागतेनापि, अन्यथा समर्थनोपन्यासादेव गम्यमानस्य हेतोरप्यनुपन्यासप्रसंगात्, मन्दमतिप्रतिपत्त्यर्थस्य चोभयत्राविशेषादिति। किञ्च, प्रतिज्ञायाः प्रयोगानर्हत्वे शास्त्रादावप्यसौ न प्रयुज्येत, दृश्यते च प्रयुज्यमानेयं शाक्यशास्त्रेऽपि। परानुग्रहार्थं शास्त्रे तत्प्रयोगश्च वादेऽपि तुल्यः, विजिगीषूणामपि मन्दमतीनामर्थप्रतिपत्तेस्तत एवोपपत्तेरिति।

[परार्थानुमान]

साधनसे साध्यका ज्ञान होना अनुमान है, यह पहले बतलाया जा चुका है; यहाँ परार्थानुमानका निरूपण किया जा रहा है। पक्ष और हेतुका प्रयोग करना परार्थानुमान है। परार्थानुमान ज्ञानात्मक न होकर वचनात्मक होनेसे उपचारसे प्रमाण माना गया है। उपचार का कारण यह है कि वचनसे श्रोताको अनुमानज्ञान होकर अर्थका बोध उत्पन्न होता है।

बौद्धोंकी मान्यता है कि पक्ष का ज्ञान विवादसे ही अर्थात् जिस विषयमें विवाद खड़ा हुआ हो उससे हो जाता है, अतएव उसके प्रयोगकी आवश्यकता नहीं है। यह मान्यता समीचीन नहीं है। व्युत्पन्नमतिवालेको किसी भी प्रासंगिक अन्य वचनोंसे व्यवहित होनेपर भी विवादसे पक्षकी प्रतीति हो भी जाय तो भी दूसरोंके प्रति, जिन्हें उसकी प्रतीति नहीं हुई है, पक्षका प्रयोग अवश्य करना चाहिए। प्रकृत अनुमान वाक्यके अन्य अवयवोंसे एक वाक्यताको प्राप्त विवादसे अगर पक्षकी प्रतीति हो जाय तो पक्षका प्रयोग न करना भी अभीष्ट है। जैसे प्रतिनियत धर्मीका धर्म प्रकट करनेके लिए बौद्ध हेतुका उपसंहार (उपनय) करते हैं, उसी प्रकार साध्यको प्रतिनियत धर्मीका धर्म सिद्ध करनेके लिए पक्षका प्रयोग भी अवश्य करना चाहिए। अर्थात् जैसे उपनयका प्रयोग करनेसे यह प्रतीत हो जाता है कि हेतु अमुक धर्मीका धर्म है, उसी प्रकार पक्षका प्रयोग करनेसे यह प्रतीत हो जाता है कि यह साध्य अमुक धर्मीका धर्म है। यदि पक्षके प्रयोगको अनावश्यक कहा जाय तो हेतुका प्रयोग भी अनावश्यक हो जायगा, क्योंकि समर्थन करनेसे ही हेतुकी प्रतीति हो सकती है। यदि कहा जाय कि मंदबुद्धियोंको समझानेके लिए हेतुका प्रयोग करना आवश्यक है तो पक्षके विषयमें भी यही बात समझ लेना चाहिए।

आगमात्परेणैव ज्ञातस्य वचनं परार्थानुमानम्, यथा बुद्धिरचेतना उत्पत्तिमत्त्वात् घटवदिति सांख्यानुमानम्। अत्र हि बुद्धावुत्पत्तिमत्त्वं सांख्याने (ख्येन) नैवाभ्युपगम्यते इति; तदेतदपेशलम्; वादिप्रतिवादिनोरागमप्रामाण्यविप्रतिपत्तेः, अन्यथा तत एव साध्यसिद्धिप्रसंगात्। परीक्षापूर्वमागमाभ्युपगमेऽपि परीक्षाकाले तद्बाधात्। नन्वेवं भवद्भिरपि कथमापाद्यते परं प्रति 'यत् सर्वथैकं तत् नानेकत्र सम्बध्यते, तथा च सामान्यम्' इति ? सत्यम्; एकधर्मोपगते(मे) धर्मान्तरसन्दर्शनमात्रं

इसके अतिरिक्त, यदि प्रतिज्ञा (पक्ष) प्रयोगके योग्य नहीं है तो शास्त्रादिमें भी उसका प्रयोग नहीं करना चाहिए था, मगर बौद्ध-शास्त्रमें भी उसका प्रयोग देखा जाता है। यदि कहा जाय कि परानुग्रह के लिए शास्त्रमें प्रतिज्ञाका प्रयोग किया जाता है तो यह बात तो वादमें भी समान है। मन्दमति विजिगीषु जनोंको पक्षप्रयोगसे ही अर्थका बोध हो सकता है।

हेतु वादी और प्रतिवादी- उभयको सिद्ध होना चाहिए, इस सर्वसम्मत सिद्धान्तके विरुद्ध कोई (सांख्य) कहता है-केवल प्रतिवादीको ही, उसके आगमके अनुसार जो सिद्ध है उस हेतुका प्रयोग करना परार्थानुमान कहलाता है। जैसे- बुद्धि अचेतन है, क्योंकि वह उत्पत्तिमान् है, जो उत्पत्तिमान् होता है, वह अचेतन होता है, जैसे घट। सांख्यका यह अनुमान परार्थानुमान है। यहाँ 'उत्पत्तिमत्त्व' हेतु स्वयं सांख्यको मान्य नहीं है (क्योंकि वह किसी पदार्थका उत्पाद अथवा विनाश स्वीकार नहीं करता, सिर्फ आविर्भाव और तिरोभाव मानता है) तथापि प्रतिवादीको सिद्ध है अतः यह परार्थानुमान है। उनका यह कथन ठीक नहीं, क्योंकि आगमकी प्रमाणताके विषयमें वादी और प्रतिवादीका मतभेद होता है। मतभेद न हो तो आगमसे ही साध्यकी सिद्धि हो जाय- अनुमानकी आवश्यकता ही न रहे।

कदाचित् कहा जाय कि प्रतिवादी अनुमान करनेके बाद परीक्षा करके आगमको स्वीकार करेगा; अनुमान करते समय तो वह यों ही स्वीकार कर लेता है और उसीके आधारसे हेतुका प्रयोग करता है, तो यह कथन भी ठीक नहीं है, क्योंकि परीक्षाके समय तो उसमें बाधा है (जिसकी प्रमाणता निश्चित नहीं है ऐसे आगमके आधारपर हेतुका प्रयोग करना समीचीन नहीं है।)

शङ्का- यदि परकीय आगमसे सिद्ध हेतुका प्रयोग करना उचित नहीं है तो आप सामान्यके एकान्त एकत्वका निषेध करनेके लिए क्यों नैयायिकके प्रति यह दोषापादन करते हैं कि- 'जो सर्वथा एक होता है, वह अनेकोंमें सम्बद्ध नहीं हो सकता; सामान्य सर्वथा एक है तो वह अनेकोंमें सम्बद्ध नहीं होना चाहिए ? अर्थात् यहाँ जैनोंने नैयायिक द्वारा ही स्वीकृत सामान्यकी एकताको हेतु बनाकर उसके अनेकत्र संबंधका निषेध किया है। यह किस प्रकार संगत हो सकता है ?

(ञ)तत्परत्वेनैतदापादनस्य वस्तुनिश्चायकत्वाभावात्, प्रसंगविपर्ययरूपस्य मौलहेतोरेव तन्निश्चायकत्वात्, अनेकवृत्तित्वव्यापकानेकत्वनिवृत्त्यैव तन्निवृत्तेः मौलहेतुपरिकरत्वेन प्रसंगोपन्यासस्यापि न्याय्यत्वात्। बुद्धिरचेतनेत्यादौ च प्रसंगविपर्ययहेतोर्व्याप्तिसिद्धिनिबन्धनस्य विरुद्धधर्माध्यासस्य विपक्षबाधकप्रमाणस्यानुपस्थापनात् प्रसंगस्याप्यन्याय्यत्वमिति वदन्ति।

हेतुः साध्योपपत्त्यन्यथानुपपत्तिभ्यां द्विधा प्रयोक्तव्यः, यथा पर्वतो वह्निमान्, सत्येव वह्नौ धूमोपपत्तेः असत्यनुपपत्तेर्वा। अनयोरन्यतरप्रयोगेणैव साध्यप्रतिपत्तौ द्वितीयप्रयोगस्यैकत्रानुपयोगः।

पक्षहेतुवचनलक्षणमवयवद्वयमेव च परप्रतिपत्त्यंगं न दृष्टान्तादिवचनम्, पक्षहेत-

---

समाधान—ठीक है, यह आपादन वस्तुका निश्चायक नहीं है। इसका प्रयोजन केवल इतना ही है कि एक धर्मको स्वीकार करने पर दूसरा धर्म भी अवश्य स्वीकार करना पड़ेगा। अर्थात् यहाँ सिर्फ यही प्रकट किया गया है कि यदि सामान्यको सर्वथा एक स्वीकार करते हो तो उसका एक साथ अनेकोंमें रहना स्वीकार नहीं कर सकते और यदि अनेकोंमें रहना स्वीकार करते हो तो उसे सर्वथा एक नहीं मान सकते। असलमें तो प्रसंग विपर्ययरूप मौलिक हेतु ही वस्तुका निश्चायक होता है। मौलिक हेतु यह है—सामान्य अनेकरूप है, क्योंकि अनेकोंमें सम्बद्ध है, जो अनेकोंमें सम्बद्ध होता है, वह अनेक होता है। अनेकत्व एकत्वसे विरुद्ध है और अनेकवृत्तित्व की उसके साथ व्याप्ति है। जब सामान्यमें अनेकवृत्तित्व स्वीकार किया है तो अनेकत्व भी स्वीकार करना चाहिए। इस मौल हेतुके आधार पर ही पूर्वोक्त प्रसंग दिया गया है। इस प्रकार अनेकवृत्तित्व के व्यापक अनेकत्व के अभावसे अनेकवृत्तित्वका भी अभाव हो जाता है। अतएव यह प्रसंगोपन्यास मूल हेतुका परिकर होनेसे न्यायोचित ही है। मगर 'बुद्धि अचेतन है, क्योंकि वह उत्पत्तिमान् है यहाँ प्रसंगका उपन्यास करना न्यायसंगत नहीं है, क्योंकि उत्पत्तिमत्त्व और अचेतनत्वकी व्याप्तिकी सिद्धि तब होती यदि वह चैतन्य और उत्पत्तिमत्त्वका विरोध सिद्ध करके विपक्षमें बाधक प्रमाण उपस्थित कर सकता। किन्तु वह वैसा करता नहीं, अतएव प्रसंगापादन करना उसके लिए उचित नहीं।

हेतुका प्रयोग दो प्रकारसे करना चाहिए—साध्योपपत्तिके रूपसे तथा अन्यथानुपपत्ति रूपसे। साध्यके होनेपर ही हेतुका होना साध्योपपत्ति है, जैसे—'पर्वत बह्निमान है, क्योंकि वह्निके होनेपर ही धूम हो सकता है' और साध्यके अभावमें साधनका अभाव होना अन्यथानुपपत्ति है। जैसे—क्योंकि वह्निके अभावमें धूम भी नहीं हो सकता।' इन दोनों प्रकारके प्रयोगोंमें से किसी भी एकके प्रयोगसे साध्यका ज्ञान हो जानेपर एक ही जगह दूसरे प्रयोगकी कोई उपयोगिता नहीं है।

पक्षप्रयोग और हेतुप्रयोगरूप दो अवयवोंसे ही दूसरेको प्रतिपत्ति (बोध) हो जाती है

वचनादेव परप्रतिपत्तेः, प्रतिबन्धस्य तर्कत एव निर्णयात्, तत्स्मरणस्यापि पक्षहेतुदर्शनेनैव सिद्धेः, असमर्थितस्य दृष्टान्तादेः प्रतिपत्त्यनंगत्वात्तत्समर्थनेनैवान्यथासिद्धेश्च। समर्थनं हि हेतोरसिद्धत्वादिदोषान्निराकृत्य स्वसाध्येनाविनाभावसाधनम्, तत एव च परप्रतीत्युपपत्तौ किमपरप्रयासेनेति ?।

मन्दमतींस्तु व्युत्पादयितुं दृष्टान्तादिप्रयोगोऽप्युपयुज्यते, तथाहि–यः खलु क्षयोपशमविशेषादेव निर्णीतपक्षो दृष्टान्तस्मार्यप्रतिबन्धग्राहकप्रमाणस्मरणनिपुणोऽपरावयवाभ्यूहनसमर्थश्च भवति, तं प्रति हेतुरेव प्रयोज्यः। यस्य तु नाद्यापि पक्षनिर्णयः, तं प्रति पक्षोऽपि। यस्तु प्रतिबन्धग्राहिणः प्रमाणस्य न स्मरति, तं प्रति दृष्टान्तोऽपि। यस्तु दार्ष्टान्तिके हेतुं योजयितुं न जानीते, तं प्रत्युपनयोऽपि। एवमपि साकांक्षं प्रति च निगमनम्। पक्षादिस्वरूपविप्रतिपत्तिमन्तं प्रति च पक्षशुद्ध्यादिकमपीति सोऽयं दशावयवो हेतुः पर्यवस्यति।

अतएव यही दो परार्थानुमान के अंग हैं, दृष्टान्त, उपनय और निगमन नहीं। परप्रतिपत्ति पक्ष और हेतुके प्रयोगसे हो जाती है, अविनाभाव संबंधका निर्णय तर्क प्रमाणसे होता है और अविनाभावका स्मरण पक्ष तथा हेतुके प्रदर्शनसे हो जाता है। अतएव इनमें से किसी भी प्रयोजनके लिए दृष्टान्त आदिके प्रयोगकी आवश्यकता नहीं है। समर्थनके अभावमें दृष्टान्त आदि प्रतिपत्तिके कारण नहीं होते हैं, और समर्थन होनेपर वे अन्यथासिद्ध बन जाते हैं।

असिद्धत्व आदि दोषों का निवारण करके हेतुका अपने साध्यके साथ अविनाभाव सिद्ध कर देना समर्थन कहलाता है। समर्थनसे ही परको प्रतीति हो जाती है, ऐसी स्थितिमें पर–प्रतीतिके लिए दूसरे प्रयासकी आवश्यकता ही क्या है ?

हाँ, मन्दबुद्धि जिज्ञासुओंको समझानेके लिए दृष्टान्त, उपनय और निगमनका प्रयोग करना भी उपयोगी है। जिसने अपने क्षयोपशमकी विशिष्टतासे पक्षका निर्णय कर लिया है, जो दृष्टान्तके द्वारा स्मरण कराने योग्य अविनाभावके ग्राहक तर्क प्रमाणको स्मरण करने में कुशल है तथा अन्यान्य अवयवोंका विचार करने में समर्थ है, उसके समक्ष केवल हेतुका प्रयोग करना ही पर्याप्त है। उसके लिये पक्षका प्रयोग करना आवश्यक नहीं है, किन्तु जिसने अभी तक पक्षका निर्णय नहीं कर पाया है, उसके लिए पक्षका भी प्रयोग करना उचित है। जो अविनाभाव–ग्राहक प्रमाण–तर्क–का स्मरण नहीं कर पाता है, उसके लिए दृष्टान्त का भी प्रयोग करना चाहिए। जो दार्ष्टान्तिक (पक्ष) में हेतुकी योजना करना नहीं जानता उसके लिए उपनयका भी प्रयोग आवश्यक है। इतना करनेपर भी जो साकांक्ष रहे अर्थात् अधिक समझनेका इच्छुक हो, उसके लिए निगमनका भी प्रयोग करना चाहिए। जिसको पक्ष आदिके स्वरूपके विषयमें विप्रतिपत्ति हो, उसके लिए पक्ष आदि पाँचों अवयवोंकी शुद्धि भी दिखलानी चाहिए। इस प्रकार परार्थानुमानके दश अवयव भी हो सकते हैं।

(हेतुप्रकाराणामुपदर्शनम् ।)

स चायं द्विविधः– विधिरूपः प्रतिषेधरूपश्च । तत्र विधिरूपो द्विविधः–विधिसाधकः प्रतिषेधसाधकश्च । तत्राद्यः षोढा, तद्यथा–कश्चिद्व्याप्य एव, यथा शब्दोऽनित्यः प्रयत्ननान्तरीयकत्वादिति । यद्यपि व्याप्यो हेतुः सर्व एव, तथापि कार्याद्यनात्मव्याप्यस्यात्(त्र)ग्रहणाद्भेदः, वृक्षः शिंशपाया इत्यादेरप्यत्रैवान्तर्भावः । कश्चित्कार्यरूपः, यथा पर्वतोऽयमग्निमान् धूमवत्त्वान्यथानुपपत्तेरित्यत्र धूमः, धूमो ह्यग्नेः कार्यभूतः तदभावेऽनुपपद्यमानोऽग्निं गमयति । कश्चित्कारणरूपः यथा वृष्टिर्भविष्यति, विशिष्टमेघान्यथानुपपत्तेरित्यत्र मेघविशेषः, स हि वर्षस्य कारणं स्वकार्यभूतं वर्षं गमयति । ननु कार्याभावेऽपि सम्भवत् कारणं न कार्यानुमापकम्, यत एव न वह्निर्धूमं गमयतीति चेत्; सत्यम्; यस्मिन्सामर्थ्याप्रतिबन्धः कारणान्तरसाकल्यं च निश्चेतुं शक्यते, तस्यैव कारणस्य कार्यानुमापकत्वात् । कश्चित् पूर्वचरः, यथा उदेष्यति शकटं कृत्तिकोदयान्यथानुपपत्तेरित्यत्र कृत्तिकोदयानन्तरं मुहूर्तान्ते नियमेन शकटोदयो जायत

हेतुके मूल दो प्रकार हैं– विधिरूप और प्रतिषेधरूप । इनमेंसे विधिरूप हेतुके भी दो भेद हैं– विधिसाधक और निषेधसाधक । विधिसाधक विधिरूप हेतु छह प्रकारके होते हैं ।

१– व्याप्यहेतु, जैसे– शब्द अनित्य है, क्योंकि वह प्रयत्नजन्य है । अनित्यता घट आदिमें तथा मेघ विद्युत् आदिमें पाई जाती है, किन्तु प्रयत्नजन्यता सिर्फ घटादिमें है, मेघ विद्युत् आदिमें नहीं, अतएव प्रयत्नजन्यत्व अनित्यत्वका व्याप्य है । यद्यपि सभी हेतु व्याप्य ही होते हैं तथापि यहाँ उसी व्याप्यकी विवक्षा की गई है जो कार्य आदि रूप न हो । इस कारण व्याप्य हेतु कार्यादि हेतुओंसे पृथक् गिना है । 'यह वृक्ष है, क्योंकि शिंशपा (सीसम्) है' इत्यादि हेतु भी इसीमें अन्तर्गत हैं । २–कार्यहेतु, जैसे–यह पर्वत अग्निमान् है, क्योंकि अग्निमान् हुए विना धूमवान् नहीं हो सकता । यहाँ 'धूम' हेतु अग्निका कार्य है और अग्निके अभावमें न होता हुआ अग्निका गमक है । ३– कारणहेतु, जैसे–वर्षा होगी, क्योंकि वृष्टि मेघोंकी अन्यथानुपपत्ति है । 'मेघ' वर्षाका कारण है और अपने कार्य वर्षाका गमक है ।

शङ्का– कारण, कार्यके अभावमें भी हो सकता है, अतएव वह कार्यका अनुमापक नहीं हो सकता । इसीसे अग्नि, धूमकी अनुमापक नहीं होती । फिर आपने कारणको हेतु क्यों कहा ?

समाधान– ठीक है, किन्तु जहाँ यह निश्चय किया जा सके कि इस कारणका सामर्थ्य अप्रतिबद्ध है अर्थात् उसमें कोई रुकावट नहीं है तथा अन्यान्य कारणोंकी पूर्णता है, वही कारण कार्यका अनुमापक होता है । (क्योंकि ऐसे कारणसे कार्यकी उत्पत्ति अवश्य होती है ।)

४–पूर्वचर हेतु, जैसे– मुहूर्तके पश्चात् शकट नक्षत्रका उदय होगा, क्योंकि अभी कृत्तिकाका उदय है । कृत्तिकाके उदयके बाद नियमसे एकमुहूर्तमें शकटका उदय होता है ।

इति कृत्तिकोदयः पूर्वचरो हेतुः शकटोदयं गमयति। कश्चित् उत्तरचरः यथोदगाद्भरणिः प्राक्, कृत्तिकोदयादित्यत्र कृत्तिकोदयः, कृत्तिकोदयो हि भरण्युदयोत्तरचरस्तं गयमतीति कालव्यवधानेनानयोः कार्यकारणाभ्यां भेदः। कश्चित् सहचरः, यथा मातुलिंगं रूपवद्भवितुमर्हति रसवत्तान्यथानुपपत्तेरित्यत्र रसः, रसो हि नियमेन रूपसहचरितः, तदभावेऽनुपपद्यमानस्तद्गमयति, परस्परस्वरूपपरित्यागोपलम्भ-पौर्वापर्याभावाभ्यां स्वभावकार्यकारणेभ्योऽस्य भेदः। एतेषूदाहरणेषु भावरूपानेवाग्न्यादीन् साधयन्ति धूमादयो हेतवो भावरूपा एवेति विधिसाधकविधिरूपास्त एवाविरुद्धोपलब्धय इत्युच्यन्ते।

द्वितीयस्तु निषेधसाधको विरुद्धोपलब्धिनामा। स च स्वभावविरुद्धतद्व्याप्याद्युपलब्धिभेदात् सप्तधा। यथा नास्त्येव सर्वथा एकान्तः, अनेकान्तस्योपलम्भात्। नास्त्यस्य तत्त्वनिश्चयः, तत्र सन्देहात्। नास्त्यस्य क्रोधोपशान्तिः, वदनविकारादेः।

अतएव कृत्तिकोदय पूर्वचर हेतु है और शकटोदयका ज्ञापक है। ५– उत्तरचर हेतु– भरणी नक्षत्रका उदय हो चुका है, क्योंकि इस समय कृत्तिकाका उदय है। यहाँ 'कृत्तिकोदय' उत्तरचर हेतु है और वह भरणी नक्षत्रके उदयका ज्ञापक है। पूर्वचर और उत्तरचर हेतुओंमें कालका व्यवधान पाया जाता है, किन्तु कार्य और कारणमें व्यवधान नहीं होता। पूर्वक्षणवर्त्ती कारण और उत्तरक्षणवर्त्ती कार्य होता है, अतएव कार्यहेतु और कारणहेतुसे यह भिन्न है। ६–सहचर–हेतु, यथा– यह बिजौरा रूपवान् है, क्योंकि रसवान् है। 'रस' सहचरहेतु है और रूपके साथ ही होनेसे रूपका गमक है।

सहचर वस्तुओंका स्वरूप भिन्न-भिन्न होता है अतएव सहचरहेतुको स्वभावहेतुमें सम्मिलित नहीं कर सकते और उनमें पौर्वापर्यका अभाव होता है अर्थात् वे कार्य–कारणकी तरह आगे-पीछे नहीं होते, इस कारण उसे कार्य-कारण हेतुमें भी अन्तर्गत नहीं कर सकते।

ऊपर जो छह उदाहरण दिखलाए गए हैं, उनमें धूम आदि हेतु स्वयं सद्भावरूप हैं और सद्भावरूप अग्नि आदिको ही सिद्ध करते हैं, अतएव वे विधिसाधक और विधिरूप हैं। यह 'अविरुद्धोपलब्धि' भी कहलाते हैं। हेतुका दूसरा प्रकार विरुद्धोपलब्धि है। यह निषेध–साधक होता है। इसके स्वभाव विरुद्धोपलब्धि, व्याप्यविरुद्धोपलब्धि आदि सात भेद हैं। यथा–

१–सर्वथा एकान्तका अभाव है, क्योंकि अनेकान्तकी उपलब्धि होती है। यह विरुद्ध स्वभावोपलब्धि हेतु है, क्योंकि 'अनेकान्त' हेतु प्रतिषेध्य एकान्तसे स्वभावसे ही विरुद्ध है। २–इस पुरुषको तत्त्वका निश्चय नहीं है, क्योंकि तत्त्वमें सन्देह है। यह विरुद्ध व्याप्योपलब्धि हेतु है, क्योंकि 'तत्त्वसन्देह' हेतु प्रतिषेध्य तत्त्वनिश्चयसे विरुद्ध अनिश्चयका व्याप्य है। ३–इस पुरुषमें क्रोधका उपशम नहीं है, क्योंकि इसके (चेहरे) पर विकार है। यह विरुद्ध कार्योपलब्धि हेतु है, क्योंकि 'वदनविकार' क्रोधके उपशमसे विरुद्ध अनुपशमका कार्य है। ४–इसका

नास्त्यस्यासत्यं वचः, रागाद्यकलंकितज्ञानकलितत्वात् । नोद्गमिष्यति मुहूर्त्तान्ते पुष्यतारा, रोहिण्युद्गमात् । नोदगान्मुहूर्तात्पूर्वं मृगशिरः, पूर्वफा(फ)ल्गुन्युदयात् । नास्त्यस्य मिथ्याज्ञानं, सम्यग्दर्शनादिति । अत्रानेकान्तः प्रतिषेध्यस्यैकान्तस्य स्वभावतो विरुद्धः । तत्त्वसन्देहश्च प्रतिषेध्यतत्त्वनिश्चयविरुद्धतदनिश्चयव्याप्यः । वदनविकारादिश्च क्रोधोपशमविरुद्धतदनुपशमकार्यम् रागाद्यकलङ्कितज्ञानकलितत्वं चासत्यविरुद्धसत्यकारणम् । रोहिण्युद्गमश्च पुष्यतारोद्गमविरुद्धमृगशीर्षोदयपूर्वचरः । पूर्वफल्गुन्युदयश्च मृगशीर्षोदयविरुद्धमघोदयोत्तरचरः । सम्यग्दर्शनं च मिथ्याज्ञानविरुद्धसम्यग्ज्ञानसहचरमिति ।

प्रतिषेधरूपोऽपि हेतुर्द्विविधः–विधिसाधकः प्रतिषेधसाधकश्चेति । आद्यो विरुद्धानुपलब्धिनामा विधेयविरुद्धकार्यकारणस्वभावव्यापकसहचरानुपलम्भभेदात्पञ्चधा । यथा अस्त्यत्र रोगातिशयः, नीरोगव्यापारानुपलब्धेः । विद्यतेऽत्र कष्टम्, इष्टसंयोगाभावात् । वस्तुजातमनेकान्तात्मकम्, एकान्तस्वभावानुपलम्भात् । अस्त्यत्र छाया, औष्ण्यानुपलब्धेः । अस्त्यस्य मिथ्याज्ञानम्, सम्यग्दर्शनानुपलब्धेरिति ।

वचन असत्य नहीं है, क्योंकि यह रागादिसे अकलंकित ज्ञानसे सम्पन्न है । यह विरुद्ध कारणोपलब्धि है, क्योंकि रागादिसे अकलंकित ज्ञानसे सम्पन्न होना असत्यसे विरुद्ध सत्य वचनका कारण है । ५–मुहूर्त्तके पश्चात् पुष्यताराका उदय नहीं होगा क्योंकि अभी रोहिणीका उदय है । यह विरुद्ध-पूर्वचर हेतु है, क्योंकि रोहिणीका उदय पुष्यताराके उदयसे विरुद्ध मृगशीर्ष नक्षत्र के उदयका पूर्वचर है । ६–मुहूर्त्त पहले मृगशीर्षका उदय नहीं हुआ है, क्योंकि इस समय पूर्वफल्गुनी नक्षत्रका उदय है । यह विरुद्ध-उत्तरचर हेतु है, क्योंकि पूर्वफल्गुनीका उदय मृगशीर्षके उदयसे विरुद्ध मघा नक्षत्रके उदयका उत्तरचर है । ७–इस पुरुषमें मिथ्या ज्ञान नहीं है, क्योंकि सम्यग्दर्शनका सद्भाव है । यह विरुद्ध सहचरोपलब्धि हेतु है, क्योंकि सम्यग्दर्शन, मिथ्याज्ञानसे विरुद्ध सम्यग्ज्ञानका सहचर है ।

प्रतिषेधरूप हेतु भी दो प्रकारका है– विधिसाधक और निषेधसाधक । जो हेतु स्वयं निषेधरूप हो किन्तु विधिका साधक हो, वह 'विरुद्धानुपलब्धि' कहलाता है । उसके पाँच भेद हैं–

(१) साध्यविरुद्धकार्यानुपलब्धि (२) साध्यविरुद्धकारणानुपलब्धि (३) साध्यविरुद्धभावानुपलब्धि (४) साध्यविरुद्धव्यापकानुपलब्धि (५) साध्यविरुद्धसहचरानुपलब्धि । इनके उदाहरण क्रमशः इस प्रकार हैं—

१–इस पुरुषमें रोगकी तीव्रता है, क्योंकि नीरोग व्यापारकी अनुपलब्धि है । २–इसको कष्ट है, क्योंकि इष्ट-संयोगका अभाव है । ३–वस्तु अनेकान्तात्मक है, क्योंकि एकान्त स्वभावकी अनुपलब्धि है । ४–यहाँ छाया है, क्योंकि उष्णताकी अनुपलब्धि है । ५–इसमें मिथ्याज्ञान है, क्योंकि सम्यग्दर्शनकी अनुपलब्धि है । इन हेतुओंको पूर्वोक्त हेतुओंकी भाँति समझ लेना चाहिए ।

द्वितीयोऽविरुद्धानुपलब्धिनामा प्रतिषेध्याविरुद्धस्वभावव्यापककार्यकारणपूर्वचरोत्तरचरसहचरानुपलब्धिभेदात् सप्तधा। यथा नास्त्यत्र भूतले कुम्भः, उपलब्धिलक्षणप्राप्तस्य तत्स्वभावस्यानुपलम्भात्। नास्त्यत्र पनसः, पादपानुपलब्धेः। नास्त्यत्राप्रतिहतशक्तिकम् बीजम्, अंकुरानवलोकनात्। न सन्त्यस्य प्रशमप्रभृतयो भावाः, तत्त्वार्थश्रद्धानाभावात्। नोद्गमिष्यति मुहूर्तान्ते स्वातिः, चित्रोदयादर्शनात्। नोदगमत्पूर्वभद्रपदा मुहूर्तात्पूर्वम्, उत्तरभद्रपदोद्गमानवगमात्। नास्त्यत्र सम्यग्ज्ञानम्, सम्यग्दर्शनानुपलब्धेरिति। सोऽयमनेकविधोऽन्यथानुपपत्त्येकलक्षणो हेतुरुक्तोऽतोऽन्यो हेत्वाभासः।

(हेत्वाभासनिरूपणम्)

स त्रेधा–असिद्धविरुद्धानैकान्तिकभेदात्। तत्राप्रतीयमानस्वरूपो हेतुरसिद्धः। स्वरूपाप्रतीतिश्चाज्ञानात्सन्देहाद्विपर्ययाद्वा। स द्विविधः–उभयासिद्धोऽन्यतरासिद्धश्च। आद्यो यथा शब्दः परिणामी चाक्षुषत्वादिति। द्वितीयो यथा अचेतनास्तरवः, विज्ञा–

जो हेतु स्वयं निषेध रूप हो और निषेधका ही साधक हो, वह 'अविरुद्धानुपलब्धि' है साध्यसे अविरुद्ध (१) स्वभावानुपलब्धि आदि उसके सात भेद कहे जाते हैं।

१–स्वभावानुपलब्धि–इस भूतलपर कुंभ नहीं है, क्योंकि वह उपलब्धिके योग्य होने पर भी उपलब्ध नहीं हो रहा है। २–व्यापकानुपलब्धि–यहाँ पनस नहीं है, क्योंकि वृक्ष नहीं है। ३–कार्यानुपलब्धि–यहाँ अप्रतिहत शक्तिवाला–जिसके सामर्थ्यमें कोई रुकावट न हो ऐसा बीज नहीं है, क्योंकि अंकुर नहीं देखा जाता है। ४–कारणानुपलब्धि–इस पुरुषमें प्रशम आदि भाव नहीं हैं, क्योंकि तत्त्वार्थ–श्रद्धाका अभाव है। ५–पूर्वचरानुपलब्धि– मुहूर्त के बाद स्वाति नक्षत्रका उदय नहीं होगा, क्योंकि इस समय चित्राका उदय नहीं है। ६– उत्तरचरानुपलब्धि– मुहूर्त से पहले पूर्वभद्रपदाका उदय नहीं हुवा है क्योंकि इस समय उत्तरभद्रपदाका उदय नहीं है। ७- सहचरानुपलब्धि–इस पुरुषमें सम्यग्ज्ञान नहीं है, क्योंकि सम्यग्दर्शन की अनुपलब्धि है।

एक मात्र अन्यथानुपपत्ति लक्षणवाला हेतु अनेक प्रकारका कहा गया है। जो हेतु इससे भिन्न है अर्थात् जिसमें निश्चित अन्यथानुपपत्ति नहीं है, वह हेतु नहीं, है हेत्वाभास है।

हेत्वाभास—इसके तीन भेद हैं– (१) असिद्ध (२) विरुद्ध और (३) अनैकान्तिक। जिस हेतुका स्वरूप अप्रतीत हो। सिद्ध न हो, वह असिद्ध हेत्वाभास कहलाता है। हेतुके स्वरूप का ज्ञान न होनेसे, उसमें संदेह होनेसे या विपर्यय होनेसे उसकी अप्रतीति होती है।

असिद्ध हेत्वाभास दो प्रकार का है– उभयासिद्ध अर्थात् जो वादी और प्रतिवादी–दोनोंको सिद्ध न हो और अन्यतरासिद्ध अर्थात् जो दोनोंमें से किसी एक को सिद्ध न हो।' शब्द परिणामी है, क्योंकि वह चक्षु इन्द्रियका विषय है, यह हेतु उभयासिद्ध है। 'वृक्ष अचेतन

नेन्द्रियायुर्निरोधलक्षणमरणरहितत्वात्, अचेतनाः सुखादयः उत्पत्तिमत्त्वादिति वा ।

नन्वन्यतरासिद्धो हेत्वाभास एव नास्ति, तथाहि-परेणासिद्ध इत्युद्भाविते यदि वादी न तत्साधकं प्रमाणमाचक्षीत, तदा प्रमाणाभावादुभयोरप्यसिद्धः । अथाचक्षीत तदा प्रमाणस्यापक्षपातित्वादुभयोरपि सिद्धः । अथ यावन्न परं प्रति प्रमाणेन प्रसाध्यते, तावत्तं प्रत्यसिद्ध इति चेत्; गौणं तर्ह्यसिद्धत्वम्, न हि रत्नादिपदार्थस्तत्त्वतोऽप्रतीयमानस्तावन्तमपि कालं मुख्यतया तदाभासः । किञ्च, अन्यतरासिद्धो यदा हेत्वाभासस्तदा वादी निगृहीतः स्यात्, न च निगृहीतस्य पश्चादनिग्रह इति युक्तम् । नापि हेतुसमर्थनं पश्चाद्युक्तम्, निग्रहान्तत्वाद्वादस्येति । अत्रोच्यते-यदा वादी सम्यग्घेतुत्वं प्रतिपद्यमानोऽपि तत्समर्थनन्यायविस्मरणादिनिमित्तेन प्रतिवादिनं प्राश्निकान् वा प्रतिबोधयितुं न शक्नोति, असिद्धतामपि नानुमन्यते, तदान्यतरासिद्धत्वेनैव निगृह्यते । तथा, स्वयमनभ्युपगतोऽपि परस्य सिद्ध इत्येतावानै (इत्येतावतै) वोप-

---

हैं क्योंकि वे विज्ञान, इन्द्रिय और आयुनिरोध रूप मरणसे रहित हैं, यह तथा 'सुख आदि अचेतन हैं, क्योंकि वे उत्पत्तिमान् हैं 'यह हेतु अन्यतरासिद्ध है । इनमें प्रथम जैनोंको और दूसरा सांख्यको सिद्ध नहीं है ।

शङ्का-कोई हेत्वाभास अन्यतरासिद्ध हो ही नहीं सकता । वादीने हेतुका प्रयोग किया और प्रतिवादीने उसमें असिद्धता दोषका उद्‌भावन किया । ऐसी स्थितिमें यदि वादी उसे सिद्ध करनेके लिये कोई प्रमाण उपस्थित न करे तो प्रमाण के अभावमें दोनोंके लिए ही वह असिद्ध हो जायगा, इसके विपरीत यदि वादी साधक प्रमाण उपस्थित कर दे तो दोनोंके लिये सिद्ध हो जायगा । प्रमाण पक्षपाती नहीं होता कि एकके लिये सिद्ध कर दे और दूसरे के लिये न करे । कदाचित् कहा जाय कि जबतक प्रतिवादीके प्रति प्रमाणसे सिद्ध नहीं किया गया तबतक उसके लिये असिद्ध होनेसे अन्यतरासिद्ध हेतु कहलाता है, तो यह असिद्धता गौण है, वास्तविक नहीं । कोई रत्न आदि पदार्थ जबतक रत्न आदिके रूपमें प्रतीत न हो तबतक वह वास्तवमें रत्नाभास नहीं कहा जा सकता । इसके अतिरिक्त अन्यतरासिद्ध यदि हेत्वाभास है तो उसका प्रयोग करनेसे वादी निग्रहस्थानको प्राप्त हो जाएगा और निगृहीतका फिर अनिग्रह होना युक्त नहीं है । निगृहीत हो जानेके पश्चात् हेतुका समर्थन करना भी योग्य नहीं है, क्योंकि निगृहीत होनेपर वादका अन्त हो जाता है ।

समाधान-जब वादी सम्यक् हेतुको स्वीकार करता हुआ भी उसके समर्थन करनेवाली युक्तिके विस्मरण आदि किसी कारणसे प्रतिवादीको या प्राश्निकों (सभ्यों) को समझा नहीं सकता और अपने हेतुकी असिद्धताको भी स्वीकार नहीं करता, तब अन्यतरासिद्धसे ही वह निगृहीत हो जाता है । इसके अतिरिक्त, जिस हेतुको वादी स्वयं स्वीकार न करता हो किन्तु प्रतिवादीको सिद्ध है, ऐसा समझकर प्रयुक्त कर दे तो वह हेतु अन्यतरासिद्ध होता है

न्यस्तो हेतुरन्यतरासिद्धो निग्रहाधिकरणम्, यथा सांख्यस्य जैनं प्रति 'अचेतनाः सुखादय उत्पत्तिमत्त्वात् घटवत्' इति।

साध्यविपरीतव्याप्तो विरुद्धः। यथा अपरिणामी शब्दः कृतकत्वादिति। कृतकत्वं ह्यपरिणामित्वविरुद्धेन परिणामित्वेन व्याप्तमिति।

यस्यान्यथानुपपत्तिः सन्दिह्यते सोऽनैकान्तिकः। स द्वेधा—निर्णीतविपक्षवृत्तिकः सन्दिग्धविपक्षवृत्तिकश्च। आद्यो यथा नित्यः शब्दः प्रमेयत्वात्। अत्र हि प्रमेयत्वस्य वृत्तिर्नित्ये व्योमादौ सपक्ष इव विपक्षेऽनित्ये घटादावपि निश्चिता। द्वितीयो यथा अभिमतः सर्वज्ञो न भवति वक्तृत्वादिति। अत्र हि वक्तृत्वं विपक्षे सर्वज्ञे संदिग्धवृत्तिकम्, सर्वज्ञः किं वक्ताऽऽहोस्विन्नेति सन्देहात्। एवं स श्यामो मित्रापुत्रत्वादित्याद्यप्युदाहार्यम्।

अकिञ्चित्कराख्यश्चतुर्थोऽपि हेत्वाभासभेदो धर्मभूषणेनोदाहृतो न श्रद्धेयः। सिद्धसाधनो बाधितविषयश्चेति द्विविधस्याप्यप्रयोजकाह्वयस्य तस्य प्रतीत-निराकृताख्यपक्षाभासभेदानतिरिक्तत्वात्। न च यत्र पक्षदोषस्तत्रावश्यं हेतुदोषोऽपि वाच्यः,

---

और वह निग्रहका स्थान है। जैसे सांख्य, जैनोंके प्रति कहे—'सुख आदि अचेतन हैं, क्योंकि वे उत्पत्तिमान् हैं' जैसे घट। यहाँ उत्पत्तिमत्त्व स्वयं सांख्यको अभिमत नहीं है तथापि जैनों को अभिमत समझकर वह प्रयुक्त करता है। अतएव यह हेतु अन्यतरासिद्ध है।

जो हेतु साध्यसे विपरीतके साथ व्याप्त हो वह विरुद्ध हेत्वाभास कहलाता है। जैसे—शब्द अपरिणामी है, क्योंकि वह कृतक है। यहाँ कृतकत्व हेतुकी अपरिणामित्व साध्यसे विरुद्ध परिणामित्वके साथ व्याप्ति है।

जिस हेतुकी व्याप्ति संदिग्ध हो, वह अनैकान्तिक कहलाता है। इसके दो भेद हैं—(१) निर्णीतविपक्षवृत्तिक अर्थात् जिसका विपक्षमें रहना निश्चित हो और (२) संदिग्धविपक्षवृत्तिक अर्थात् जिसका विपक्षमें रहना संदिग्ध हो। 'शब्द' नित्य है, क्योंकि प्रमेय है। यह निर्णीतविपक्षवृत्तिक अनैकान्तिक हेत्वाभास है। यहाँ प्रमेयत्व हेतु जिस प्रकार आकाश आदि सपक्षमें रहता है, उसी प्रकार विपक्ष अनित्य घट आदिमें भी निश्चित रूपसे रहता है। 'विवक्षित पुरुष सर्वज्ञ नहीं है, क्योंकि वह वक्ता है' यह संदिग्धविपक्षवृत्तिक है यहाँ वक्तृत्व हेतुका विपक्ष सर्वज्ञमें रहना संदिग्ध है, क्योंकि क्या सर्वज्ञ वक्ता होता है। अथवा नहीं? ऐसा सन्देह होता है। इसी प्रकार 'गर्भस्थ मित्रपुत्र श्याम है, क्योंकि वह मित्राका पुत्र है' इत्यादि उदाहरण भी यहाँ समझ लेने चाहिए।

धर्मभूषणने अकिंचित्कर नामक चौथा हेत्वाभासका भेद बतलाया है। वह श्रद्धेय नहीं है। अकिंचित्करके दो भेद हैं—सिद्धसाधन और बाधितविषय। मगर यह दोनों प्रकारका अप्रयोजक हेत्वाभास प्रतीतपक्षाभास और निराकृतपक्षाभासमें अन्तर्गत हो जाता है। जहाँ

दृष्टान्तादिदोषस्याप्यवश्यं वाच्यत्वापत्तेः। एतेन कालात्ययापदिष्टोऽपि प्रत्युक्तो वेदितव्यः। प्रकरणसमोऽपि नातिरिच्यते, तुल्यबलसाध्यतद्विपर्ययसाधकहेतुद्वयरूपे सत्यस्मिन् प्रकृतसाध्यसाधनयोरन्यथानुपपत्त्यनिश्चयेऽसिद्ध एवान्तर्भावादिति संक्षेपः।

(५ आगमप्रमाणनिरूपणम्)

आप्तवचनादाविर्भूतमर्थसंवेदनमागमः। न च व्याप्तिग्रहणबलेनार्थप्रतिपादकत्वाद् धूमवदस्यानुमानेऽन्तर्भावः, कूटाकूटकार्षापणप्रवणप्रत्यक्षवदभ्यासदशायां व्याप्तिग्रहनैरपेक्ष्येणैवास्यार्थबोधकत्वात्। यथास्थितार्थपरिज्ञानपूर्वकहितोपदेशप्रवण आप्तः, वर्णपदवाक्यात्मकं तद्वचनम्, वर्णोऽकारादिः पौद्गलिकः, पदं सङ्केतवत्, अन्योऽन्यापेक्षाणां पदानां समुदायो वाक्यम्।

पक्ष–संबंधी दोष हो वहाँ हेतुमें भी अवश्य दोष होना चाहिए, ऐसा कहना उचित नहीं है। अगर पक्षके दोषसे हेतु दूषित माना जाय तब तो दृष्टान्त आदिके दोषसे भी हेतुमें दोष मानना पड़ेगा। इस कथनसे कालात्ययापदिष्ट नामक हेत्वाभासका भी निषेध समझ लेना चाहिए, क्योंकि वह भी निराकृतपक्षाभासमें सम्मिलित है। प्रकरणसमनामक हेत्वाभास भी पृथक् नहीं है जिस हेतुका तुल्यबलवाला विरोधी हेतु विद्यमान हो वह प्रकरणसम कहलाता है। साध्यको और साध्यविपर्ययको सिद्ध करनेवाले दोनों हेतुओंकी व्याप्ति निश्चित न होनेसे असिद्ध हेत्वाभासमें ही उनका अन्तर्भाव हो जाता है।

५–जो वस्तुस्वरूपका यथार्थ ज्ञाता और यथार्थ वक्ता हो ऐसे आप्त पुरुषके वचनसे उत्पन्न होनेवाला पदार्थका संवेदन '**आगम**' कहलाता है।

वैशेषिकोंकी मान्यता है कि आगम प्रमाण तो है, किन्तु वह धूमानुमानकी तरह अनुमानमें ही अन्तर्गत है। जैसे अनुमान प्रमाण व्याप्ति–ग्रहणके बलसे अर्थका प्रतिपादन करता है, उसी प्रकार आगम भी। अतएव उसे पृथक् प्रमाण नहीं मानना चाहिए। उनकी मान्यता समीचीन नहीं है। असली या नकली कार्षापण (सिक्का–विशेष) का निर्णय करनेवाला प्रत्यक्ष जैसे अभ्यस्त (परिचित) दशामें व्याप्तिके ग्रहणकी अपेक्षा नहीं रखता और व्याप्तिग्रहणके विना ही अर्थबोधक होता है, उसी प्रकार अनुमान भी अभ्यासदशामें व्याप्तिग्रहणकी अपेक्षा नहीं रखता। अतएव अनुमानमें उसका अन्तर्भाव नहीं हो सकता। (अनभ्यासदशामें जहाँ व्याप्तिग्रहणकी आवश्यकता रहती है वहाँ उसे अनुमानरूप माननेमें कोई बाधा नहीं।)

जो पुरुष पदार्थके वास्तविक स्वरूपको जान कर हितका उपदेश करनेमें कुशल हो, वह आप्त कहलाता है। उसके वचन, वर्ण, पद और वाक्यरूप होते हैं। भाषावर्गणाके पुद्गलोंसे बने हुए 'अकार' आदि वर्ण कहलाते हैं। जिसमें किसी अर्थका संकेत होसके अर्थात् जो वर्णसमूह सार्थक हो, वह पद कहलाता है। परस्पर सापेक्ष पदोंका समूह–जिसे अर्थबोध करानेमें किसी अन्य पदकी अपेक्षा न हो, वाक्य कहलाता है।

तदिदमागमप्रमाणं सर्वत्र विधिप्रतिषेधाभ्यां स्वार्थमभिदधानं सप्तभंगीमनुगच्छति, तथैव परिपूर्णार्थप्रापकत्वलक्षणतात्त्विकप्रामाण्यनिर्वाहात्, क्वचिदेकभङ्गदर्शनेऽपि व्युत्पन्नमतीनामितरभंगाक्षेपध्रौव्यात् । यत्र तु घटोऽस्तीत्यादिलोकवाक्ये सप्तभंगीसंस्पर्शशून्यता तत्रार्थप्रापकत्वमात्रेण लोकापेक्षया प्रामाण्येऽपि तत्त्वतो न प्रामाण्यमिति द्रष्टव्यम् ।

(सप्तभंगीस्वरूपचर्चा)

केयं सप्तभंगीति चेदुच्यते---एकत्र वस्तुन्येकैकधर्मपर्यनुयोगवशादविरोधेन व्यस्तयोः समस्तयोश्च विधिनिषेधयोः कल्पनया स्यात्काराङ्कितः सप्तधा वाक्प्रयोगः सप्तभंगी । इयं च सप्तभंगी वस्तुनि प्रतिपर्यायं सप्तविधधर्माणां सम्भवत् सप्तविधसंशयोत्थापितसप्तविधजिज्ञासामूलसप्तविधप्रश्नानुरोधादुपपद्यते। तत्र स्यादस्त्येव सर्वमिति प्राधान्येन विधिकल्पनया प्रथमो भंगः। स्यात्-कथञ्चित् स्वद्रव्यक्षेत्रकालभावापेक्षयेत्यर्थः । अस्ति हि घटादिकं द्रव्यतः पार्थिवादित्वेन, न जलादित्वेन । क्षेत्रतः

यह आगम प्रमाण सर्वत्र विधि और निषेधके द्वारा अपने प्रतिपाद्य विषयका प्रतिपादन करता हुआ सप्तभंगीको प्राप्त होता है। सप्तभंगीके रूपमें ही वह पदार्थका पूर्णरूपसे निरूपण कर सकता है और अपनी वास्तविकताका निर्वाह कर सकता है। आगममें कहीं-कहीं एक भंग ही देखा जाता है, तथापि बुद्धिमानोंको उस एक भंगसे ही अन्य (छह) भंगोंको समझ लेना चाहिए। 'घट है' इत्यादि लौकिकवाक्योंमें जहाँ सप्तभंगीका संस्पर्श नहीं है, वहाँ यह वाक्य अर्थप्रापक होनेके कारण ही लोककी अपेक्षामात्रसे प्रमाण है, किन्तु उसमें तात्त्विक प्रमाणता नहीं है।

सप्तभंगी—सप्तभंगी क्या है, यह बतलाते हैं। किसी भी एक वस्तुके एक-एक धर्म–संबंधी प्रश्नके अनुरोधसे, 'स्यात्' (कथंचित्) शब्दसे युक्त सात प्रकारका वचन–प्रयोग सप्तभंगी कहलाता है। वह वचनप्रयोग विवक्षाओंकी भिन्नतासे इस प्रकार किया जाता है कि उसमें परस्पर विरोध न हो। किसीमें विधिकी कल्पना होती है, किसीमें अकेले निषेधकी और किसीमें मिले हुए विधि-निषेधकी–दोनोंकी कल्पना होती है।

एक वस्तुके एक पर्यायमें सात प्रकारके ही धर्म संभव हैं—उससे न्यून या अधिक नहीं, अतएव सात प्रकारके ही संशय उत्पन्न होते हैं, सात ही प्रकारके संशय होनेका कारण यह है कि जिज्ञासुकी जिज्ञासाएँ सात प्रकारकी ही होती हैं। जब जिज्ञासाएँ सात प्रकारकी होती हैं तो जिज्ञासाप्रेरित प्रश्न भी सात ही हो सकते हैं और चूंकि प्रश्न सात होते हैं, अतएव उनके उत्तरस्वरूप भंग भी सात ही होते हैं। यहाँ अस्तित्व पर्यायको लेकर सात भंग दिखाते हैं—

१—स्यात् सब पदार्थ हैं ही, इस प्रकार प्रधान रूपसे विधिकी विवक्षासे प्रथम भंग होता है। यहाँ 'स्यात्' का अर्थ है कथंचित्। अर्थात् सब पदार्थ अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावसे हैं जैसे घट द्रव्यसे पार्थिव रूपसे है अर्थात् मिट्टी आदिसे बना हुआ है, जलादिसे नहीं।

पाटलिपुत्रकादित्वेन, न कान्यकुब्जादित्वेन । कालतः शैशिरादित्वेन, न वासन्तिकादित्वेन । भावतः श्यामादित्वेन, न रक्तादित्वेनेति । एवं स्यान्नास्त्येव सर्वमिति प्राधान्येन निषेधकल्पनया द्वितीयः । न चासत्त्वं काल्पनिकम्; सत्त्ववत् तस्य स्वातन्त्र्येणानुभवात्, अन्यथा विपक्षासत्त्वस्य तात्त्विकस्याभावेन हेतोस्त्रैरूप्यव्याघातप्रसंगात् । स्यादस्त्येव स्यान्नास्त्येवेति प्राधान्येन क्रमिकविधिनिषेधकल्पनया तृतीयः । स्यादवक्तव्यमेवेति युगपत्प्राधान्येन विधिनिषेधकल्पनया चतुर्थः, एकेन पदेन युगपदुभयोर्वक्तुमशक्यत्वात् । शतृशानशौ सदित्यादौ सांकेतिकपदेनापि क्रमेणार्थद्वयबोधनात् । अन्यतरत्वादिना कथञ्चिदुभयबोधनेऽपि प्रातिस्विकरूपेणैकपदादुभयबोधस्य ब्रह्मणापि दुरुपपादत्वात् । स्यादस्त्येव स्यादवक्तव्यमेवेति विधिकल्पनया युगपद्विधिनिषेधकल्पनया च पञ्चमः । स्यान्नास्त्येव स्यादवक्तव्यमेवेति निषेधकल्पनया युगपद्विधिनिषेधकल्पनया च षष्ठः । स्यादस्त्येव स्यन्नास्त्येव स्यादवक्तव्यमेवेति विधिनिषेधकल्पनया युगपद्विधिनिषेधकल्पनया च सप्तम इति ।

क्षेत्रसे पाटलिपुत्रमें है, कान्यकुब्जमें नहीं । कालसे शिशिर ऋतुमें है, वसन्तमें नहीं । भावसे श्याम है, रक्त नहीं । तात्पर्य यह है कि प्रत्येक वस्तुमें स्वद्रव्य-क्षेत्रका भावसे अस्तित्व होता ही है । २–कथंचित् सब पदार्थ नहीं हैं, इस प्रकार प्रधान रूपसे निषेधकी कल्पनासे द्वितीय भंग होता है । यहाँ 'कथंचित्' शब्दसे परद्रव्य-क्षेत्र-कालभाव समझना चाहिए, अर्थात् पर–द्रव्यादिसे सब वस्तुएँ असत् हैं । कोई असत्त्वको काल्पनिक मानते हैं सो ठीक नहीं है क्योंकि सत्त्वकी भाँति असत्त्व भी स्वतंत्र रूपसे अनुभवमें आता है । यदि असत्त्वको काल्पनिक माना जाय तो 'विपक्षासत्त्व' (हेतुका विपक्ष-साध्याभावमें न रहना) भी वास्तविक न होगा । ऐसी स्थितिमें हेतुकी त्रिरूपतामें गड़बड़ हो जाएगी । ३–कथंचित् सब पदार्थ हैं, कथंचित् नहीं हैं, इस प्रकार प्रधान रूपसे क्रमशः विधि और निषेधकी कल्पनासे तीसरा भंग होता है । ४–कथंचित् सब पदार्थ अवक्तव्य हैं, इस प्रकार एक साथ विधि और निषेधकी कल्पनासे चौथा भंग होता है । चौथे भंगको अवक्तव्य कहनेका कारण यह है कि किसी भी एक पदके द्वारा एक साथ अस्तित्व और नास्तित्व दोनोंका कथन करना शक्य नहीं है । शतृ और शानश् इन दोनों प्रत्ययों के लिए जो 'सत्' पद संकेतित किया गया है, वह भी क्रमसे ही दोनों प्रत्ययों का बोध कराता है–युगपद् नहीं । अन्यतरत्व आदिके द्वारा किसी प्रकार दोनोंका बोध हो भी जाय तो भी अलग-अलग नियत रूपसे एक पदसे दोनोंका बोध तो ब्रह्मा भी नहीं करा सकता । ५–कथंचित् सब पदार्थ हैं और कथंचित् अवक्तव्य हैं, इस प्रकार विधिकी विवक्षासे तथा एक साथ विधि-निषेधकी विवक्षासे पाँचवाँ भंग होता है । ६–कथंचित् सब पदार्थ नहीं हैं और कथंचित् अवक्तव्य हैं, इस प्रकार निषेध की तथा एक साथ विधि-निषेध की विवक्षासे छठा भंग होता है । ७–कथंचित् सब पदार्थ हैं, कथंचित् नहीं हैं और कथंचित् अवक्तव्य हैं, एवं क्रमसे विधि-निषेध और एक साथ विधि-निषेधकी कल्पनासे सातवाँ भंग होता है ।

सेयं सप्तभंगी प्रतिभंग (भंगं) सकलादेशस्वभावा विकलादेशस्वभावा च। तत्र प्रमाणप्रतिपन्नानन्तधर्मात्मकवस्तुनः कालादिभिरभेदवृत्तिप्राधान्यादभेदोपचाराद्वा यौगपद्येन प्रतिपादकं वचः सकलादेशः। नयविषयीकृतस्य वस्तुधर्मस्य भेदवृत्तिप्राधान्याद्भेदोपचाराद्वा क्रमेणाभिधायकं वाक्यं विकलादेशः। ननु कः क्रमः, किं वा यौगपद्यम्? उच्यते–यदास्तित्वादिधर्माणां कालादिभिर्भेदविवक्षा तदैकशब्दस्यानेकार्थप्रत्यायने शक्त्यभावात् क्रमः। यदा तु तेषामेव धर्माणां कालादिभिरभेदेन वृत्तमात्मरूपमुच्यते तदैकेनापि शब्देनैकधर्मप्रत्यायनमुखेन तदात्मकतामापन्नस्यानेकाशेषरूपस्य वस्तुनः प्रतिपादनसम्भवाद्यौगपद्यम्।

के पुनः कालादयः?। उच्यते–काल आत्मरूपमर्थः सम्बन्ध उपकारः गुणिदेशः संसर्गः शब्द इत्यष्टौ। तत्र स्याज्जीवादि वस्त्वस्त्येवेत्यत्र यत्कालमस्तित्वं त्वत् (तत्)

यह सप्तभंगी, प्रत्येक भंगमें दो प्रकारकी है–सकलादेश स्वभाववाली और विकलादेश स्वभाववाली। प्रमाणसे सिद्ध अनन्त धर्मोंवाली वस्तुको, काल आदिके द्वारा अभेदकी प्रधानतासे अभेदका उपचार करके युगपद्–एक साथ प्रतिपादन करनेवाला वचन सकलादेश कहलाता है तात्पर्य यह है कि प्रत्येक वस्तुमें अनन्त धर्म हैं, अतएव उसका पूर्ण रूपसे प्रतिपादन करनेके लिए अनन्त शब्दोंका प्रतिपादन करना चाहिए, क्योंकि एक शब्द एक ही धर्मका प्रतिपादन कर सकता है मगर ऐसा करना शक्य नहीं है। हम एक शब्दका प्रयोग करते हैं। वह एक शब्द मुख्य रूपसे एक धर्मका प्रतिपादन करता है और शेष बचे हुए धर्मोंको उस एक धर्मसे अभिन्न मान लेते हैं। इस प्रकार एक शब्दसे एक धर्मका प्रतिपादन हुआ और उससे अभिन्न होनेके कारण शेष धर्मोंका भी प्रतिपादन हो गया। इस उपायसे एकही शब्द एक साथ अनन्त धर्मोंका अर्थात् सम्पूर्ण वस्तुका प्रतिपादक हो जाता है। यही सकलादेश है।

नयके विषयभूत धर्मका, काल आदिके द्वारा भेदकी प्रधानतासे अथवा भेदका उपचार करके, क्रमसे प्रतिपादन करनेवाला वाक्य विकलादेश कहलाता है।

प्रश्न–क्रम और यौगपद्यका क्या अर्थ है? उत्तर–जब अस्तित्व आदि धर्मोंकी काल आदिके आधारसे भेदविवक्षा की जाती है, उस समय एक शब्द अनेक अर्थों–धर्मोंका प्रतिपादन करनेमें समर्थ नहीं होता, अतएव क्रम होता है। किन्तु जब उन्हीं धर्मोंका कालादिके आधारसे अभिन्न स्वरूप कहा जाता है, तब एक ही शब्द एक धर्मका प्रतिपादन करता हुआ, तद्रूप बने हुए अन्य समस्त धर्मात्मक वस्तुका प्रतिपादन कर देता है, यही यौगपद्य कहलाता है।

प्रश्न–जिन काल-आदिके आधार पर एक धर्मका अन्य धर्मोंसे अभेद या भेद किया जाता है, वे कौन-कौन हैं? उत्तर–(१) काल (२) आत्मरूप (३) अर्थ (४) सम्बन्ध (५) उपकार (६) गुणिदेश (७) संसर्ग और (८) शब्द, ये आठ हैं। इन आठोंके आधारसे

-कालाः शेषानन्तधर्मा वस्तुन्येकत्रेति तेषां कालेनाभेदवृत्तिः। यदेव चास्तित्वस्य तद्-गुणत्वमात्मरूपं तदेवान्यानन्तगुणानामपीत्यात्मरूपेणाभेदवृत्तिः। य एव चाधारे(रो)ऽर्थो द्रव्याख्योऽस्तित्वस्य स एवान्यपर्यायाणामित्यर्थेनाभेदवृत्तिः। य एव चाविष्व-ग्भावः सम्बन्धोऽस्तित्वस्य स एवान्येषामिति सम्बन्धेनाभेदवृत्ति। य एव चोपकारो-ऽस्तित्वेन स्वानुरक्तत्वकरणं स एवान्यैरपीत्युपकारेणाभेदवृत्तिः। य एव गुणिनः सम्बन्धी देशः क्षेत्रलक्षणोऽस्तित्वस्य स एवान्येषामिति गुणिदेशेनाभेदवृत्तिः। य एव चैकवस्त्वात्मनाऽस्तित्वस्य संसर्गः स एवान्येषामिति संसर्गेणाभेदवृत्तिः। गुणीभूत-भेदादभेदप्रधानात् सम्बन्धाद्विपर्ययेण संसर्गस्य भेदः। य एव चास्तीति शब्दोऽस्ति-त्वधर्मात्मकस्य वस्तुनो वाचकः स एवाशेषानन्तधर्मात्मकस्यापीति शब्देनाभेदवृत्तिः, पर्यायार्थिकनयगुणभावेन द्रव्यार्थिकनयप्राधान्यादुपपद्यते। द्रव्यार्थिकगुणभावेन पर्या-यार्थिकप्राधान्ये तु न गुणानामभेदवृत्तिः सम्भवति, समकालमेकत्र नानागुणानामसम्भ-वात्, सम्भवे वा तदाश्रयस्य भेदप्रसङ्गात्। नानागुणानां सम्बन्धिन आत्मरूपस्य च भिन्नत्वात्, अन्यथा तेषां भेदविरोधात्, स्वाश्रयस्यार्थस्यापि नानात्वात्, अन्यथा

अभेद वृत्ति इस प्रकार होती है– (१) 'कथंचित् जीवादि वस्तु हैं ही' यहाँ जिस कालमें जीवादिमें अस्तित्व है उसी कालमें उनमें शेष अनन्त धर्म भी हैं यह कालसे अभेद वृत्ति है। (२) जीवादिका गुण होना जैसे अस्तित्वका आत्मरूप-स्वरूप है, उसी प्रकार अन्य अनन्त गुणोंका भी यही आत्मरूप है यह आत्मरूपसे अभेद वृत्ति है। (३) जो द्रव्य रूप अर्थ अस्तित्वका आधार है वही अन्य धर्मोंका भी आधार है। (४) जीवादिके साथ अभेद रूप जो संबंध अस्तित्वका है, वही संबंध अन्य धर्मोंका भी है। यह संबंधसे अभेद वृत्ति है। (५) अस्तित्व धर्म जीवादिका जो उपकार करता है–अपनेसे युक्त बनाता है, वही उपकार अन्य धर्म भी करते हैं। यह उपकारसे अभेद वृत्ति है। (६) अस्तित्व धर्म जीवादिमें जिस देशमें रहता है, उसीमें अन्य धर्म भी रहते हैं। यह गुणिदेशसे अभेद वृत्ति है। (७) अस्तित्वका जीवादिके साथ एक वस्तु रूपसे जो संसर्ग है, वही अन्य धर्मोंका भी संसर्ग है। यह संसर्गसे अभेद वृत्ति है। (८) 'अस्ति' (है) यह शब्द अस्तित्वधर्मात्मक वस्तुका वाचक है, वही अन्य अनन्तधर्मात्मक वस्तु का भी वाचक है। यह शब्दसे अभेद वृत्ति है। यह अभेद वृत्ति पर्यायार्थिक नयको गौण और द्रव्यार्थिक नयको मुख्य करने पर होती है। किन्तु जब द्रव्यार्थिक नय गौण और पर्यार्थिक नय मुख्य होता है तब अभेद वृत्ति संभव नहीं है। क्यों कि– (१) एक ही कालमें, एक वस्तुमें, नाना गुण संभव नहीं हैं। अगर संभव हों तो उससे अधारभूत वस्तुमें भी भेद हो जायगा। (२) नाना गुणों-संबंधी आत्मरूप भिन्न–भिन्न होता है। अगर भिन्न न हो तो गुणोंमें भेद नहीं हो सकता। (३) नाना गुणोंका आधारभूत

नानागुणाश्रयत्वविरोधात् । सम्बन्धस्य च सम्बन्धिभेदेन भेददर्शनात्, नानासम्बन्धिभिरेकत्रैकसम्बन्धाघटनात् । तैः क्रियमाणस्योपकारस्य च प्रतिनियतरूपस्यानेकत्वात्, अनेकैरुपकारिभिः क्रियमाणस्योपकारस्यैकस्य विरोधात् । गुणिदेशस्य च प्रतिगुणं भेदात्, तदभेदे भिन्नार्थगुणानामपि गुणिदेशाभेदप्रसङ्गात् । संसर्गस्य च प्रतिसंसर्गि भेदात्, तदभेदे संसर्गिभेदविरोधात् । शब्दस्य प्रतिविषयं नानात्वात्, सर्वगुणानामेकशब्दवाच्यतायां सर्वार्थानामेकशब्दवाच्यतापत्तेरिति कालादिभिर्भिन्नात्मनामभेदोपचारः क्रियते । एवं भेदवृत्तितदुपचारावपि वाच्याविति । पर्यवसितं परोक्षम् । ततश्च निरूपितः प्रमाणपदार्थः ।

इति महामहोपाध्यायश्रीकल्याणविजयशिष्यमुख्यपण्डितश्रीलाभविजयगणिशिष्यावतंस-
पण्डितश्रीजीतविजयगणिसतीर्थ्यपण्डितश्रीनयविजयगणिशिष्येण
पण्डितश्रीपद्मविजयगणिसहोदरेण पण्डितयशोविजयगणिना
कृतायां जैनतर्कभाषायां प्रमाणपरिच्छेदः सम्पूर्णः ।

पदार्थ भी नानारूप ही हो सकता है । वह नानारूप न हो तो नानागुणोंका आधार भी नहीं हो सकता । (४) संबंधियोंकी भिन्नतासे संबंधमें भी भेद देखा जाता है । संबंधी अनेक हों और उनका संबंध एकत्र और एक हो, यह नहीं हो सकता । (५) अनेक धर्मोंके द्वारा किया जाने वाला उपकार अलग–अलग होनेसे अनेक रूप ही होता है, क्यों कि अनेक उपकारियों द्वारा किया जाने वाला उपकार एक नहीं हो सकता । (६) प्रत्येक गुणका गुणिदेश पृथक्-पृथक् ही होता है । अगर अनेक गुणोंका गुणिदेश अभिन्न माना जाय तो भिन्न-भिन्न पदार्थोंके गुणों के गुणिदेशमें भी अभेद मानना पड़ेगा (७) संसर्गीके भेदसे संसर्गमें भी भेद होता है । संसर्गमें भेद न हो तो संसर्गियों (गुणों) में भी भेद नहीं हो सकता (८) विषयके भेदसे शब्दमें भी भेद होता है । यदि समस्त गुण एकही शब्दके वाच्य हों तो संसारके समस्त पदार्थ भी एक ही शब्दके वाच्य हो जाएँ । इस प्रकार कालादिसे भिन्न गुणोंमें अभेदका उपचार किया जाता है । इसी तरह भेदवृत्ति और भेदका उपचार भी समझ लेना चाहिए ।

परोक्ष प्रमाणका निरूपण पूर्ण हुआ और प्रमाणका निरूपण भी समाप्त हुआ ।

२. नयपरिच्छेदः ।

(नयानां स्वरूपनिरूपणम् ।)

प्रमाणान्युक्तानि । अथ नया उच्यन्ते । प्रमाणपरिच्छिन्नस्यानन्तधर्मात्मकस्य वस्तुन एकदेशग्राहिणस्तदितरांशाप्रतिक्षेपिणोऽध्यवसायविशेषा नयाः । प्रमाणैकदेशत्वात् तेषां ततो भेदः । यथा हि समुद्रैकदेशो न समुद्रो नाप्यसमुद्रस्तथा नया अपि न प्रमाणं न वाऽप्रमाणमिति । ते च द्विधा-द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकभेदात् । तत्र प्राधान्येन द्रव्यमात्रग्राही द्रव्यार्थिकः । प्राधान्येन पर्यायमात्रग्राही पर्यायार्थिकः । तत्र द्रव्यार्थिकस्त्रिधा नैगमसंग्रहव्यवहारभेदात् । पर्यायार्थिकश्चतुर्धा ऋजुसूत्रशब्दसमभिरूढैवंभूतभेदात् । ऋजुसूत्रो द्रव्यार्थिकस्यैव भेद इति तु जिनभद्रगणिक्षमाश्रमणाः ।

तत्र सामान्यविशेषाद्यनेकधर्मोपनयनपरोऽध्यवसायो नैगमः, यथा पर्याययोर्द्रव्ययोः पर्यायद्रव्ययोश्च मुख्यामुख्यरूपतया विवक्षणपरः । अत्र सच्चैतन्यमात्मनीति पर्याययोर्मुख्यामुख्यतयाविवक्षणम् । अत्र चैतन्याख्यस्य व्यञ्जनपर्यायस्य विशेष्यत्वेन

नयपरिच्छेद (नयोंका स्वरूप)

प्रमाणोंका स्वरूप कहा जा चुका है, अब नयोंका कथन किया जाता है ।

श्रुतप्रमाण के द्वारा गृहीत अनन्त धर्मात्मक वस्तुके एक देश-धर्म-को ग्रहण करनेवाला किन्तु उस गृहीत धर्मसे इतर धर्मोंका निषेध या विरोध न करनेवाला अभिप्राय नय कहलाता है।

प्रमाण अनन्तधर्मात्मक समस्त वस्तुका ग्राहक होता है जब कि नय केवल एक धर्मको ग्रहण करता है । इस कारण नय, प्रमाणका एक अंश है । यही प्रमाण और नयमें अन्तर है। जैसे समुद्रका एक अंश न समुद्र कहा जा सकता है और न असमुद्र ही; इसी प्रकार नय न प्रमाण है और न अप्रमाण है–वह प्रमाणका एक अंश है ।

नयके दो भेद हैं–(१) द्रव्यार्थिक नय और (२) पर्यायार्थिकनय । प्रधान रूपसे केवल द्रव्यको ही ग्रहण करनेवाला द्रव्यार्थिक और प्रधान रूपसे पर्याय मात्रका ग्राहक पर्यायार्थिक नय है । द्रव्यार्थिकनय तीन हैं– (१) नैगम (२) संग्रह और (३) व्यवहार । पर्यायार्थिक नय चार प्रकारके हैं–(१) ऋजुसूत्र (२) शब्द (३) समभिरूढ़ और (४) एवंभूत । किन्तु जिनभद्रगणि क्षमाश्रमणके मतसे ऋजुसूत्र नय द्रव्यार्थिक नयका ही भेद है।

(१) सामान्य तथा विशेष आदि अनेक धर्मोंको ग्रहण करनेवाला अभिप्राय नैगमनय कहलाता है । यह नय दो द्रव्योंमेंसे, दो पर्यायोंमेंसे तथा द्रव्य एवं पर्यायमेंसे किसी एकको मुख्य और दूसरेको गौण कर देता है । जैसे–(अ) 'आत्मामें सत् चैतन्य है' यहाँ सत्त्व और चैतन्य, यह दोनों पर्याय हैं, किन्तु चैतन्य रूप व्यंजन पर्यायको विशेष्य बनाकर मुख्यता

मुख्यत्वात्, सत्त्वाख्यस्य तु विशेषणत्वेनामुख्यत्वात् । प्रवृत्तिनिवृत्तिनिबन्धनार्थक्रिया-कारित्वोपलक्षितो व्यञ्जनपर्यायः । भूतभविष्यत्त्वसंस्पर्शरहितं वर्तमानकालावच्छिन्नं वस्तुस्वरूपं चार्थपर्यायः । वस्तु पर्यायवद्द्रव्यमिति द्रव्ययोर्मुख्यामुख्यतया विवक्षणम्, पर्यायवद्द्रव्याख्यस्य धर्मिणो विशेष्यत्वेन प्राधान्यात्, वस्त्वाख्यस्य विशेषणत्वेन गौण-त्वात् । क्षणमेकं सुखी विषयासक्तजीव इति पर्यायद्रव्ययोर्मुख्यामुख्यतया विवक्षणम् । अत्र विषयासक्तजीवाख्यस्य धर्मिणो विशेष्यत्वेन मुख्यत्वात्, सुखलक्षणस्य तु धर्मस्य तद्विशेषणत्वेनामुख्यत्वात् । न चैवं द्रव्यपर्यायोभयावगाहित्वेन नैगमस्य प्रामाण्य-प्रसंगः, प्राधान्येन तदुभयावगाहिन एव ज्ञानस्य प्रमाणत्वात् ।

सामान्यमात्रग्राही परामर्शः संग्रहः–स द्वेधा, परोऽपरश्च । तत्राशेषविशेषेष्वौ-दासीन्यं भजमानः शुद्धद्रव्यं सन्मात्रमभिमन्यमानः परः संग्रहः । यथा विश्वमेकं सद-विशेषादिति । द्रव्यत्वादीन्यवान्तरसामान्यानि मन्वानस्तद्भेदेषु गजनिमीलिकामवल-

---

प्रदान की गई है और सत्त्वपर्यायको विशेषण बनाकर गौण कर दिया गया है । जिसमें प्रवृत्ति या निवृत्तिरूप अर्थक्रियाकी जा सकती हो, वह व्यंजन पर्याय है । (यह पर्याय व्यक्त होनेसे छद्मस्थोंके अनुभवमें आसकती है और त्रिकाल वर्त्ती होती है ।) किन्तु जो पर्याय भूत और भविष्यत् कालके स्पर्शसे रहित है–सिर्फ वर्त्तमानकालमें ही–एक समय मात्र ही रहता है, वह अर्थपर्याय कहलाता है । (आ) 'वस्तुपर्यायवाला द्रव्य है' यहाँ दो द्रव्योंमेंसे एकको मुख्य और दूसरेको अमुख्य विवक्षित किया गया है । 'पर्यायवान् द्रव्य' रूप धर्मीको विशेष्य बनाकर प्रधानता दी गई है और 'वस्तु' को विशेषण बनाकर गौण कर दिया गया है । (इ) 'विष-यासक्त जीव एक क्षण सुखी होता है' यहाँ पर्याय और द्रव्यमेंसे एकको प्रधान और एकको गौण कर दिया गया है । 'विषयासक्त जीव' धर्मी विशेष होनेके कारण प्रधान है और 'सुख' धर्म उसका विशेषण होनेसे अप्रधान हो गया है ।

नय एक ही अंशका ग्राहक होता है, किन्तु नैगमनय द्रव्य और पर्याय-दोनों अंशोंका ग्राहक है, अतएव उसे नय न मान कर प्रमाण मानना चाहिए; यह कहना ठीक नहीं । प्रमाण वही ज्ञान माना जाता है जो द्रव्य और पर्याय दोनोंको प्रधान रूपमें ग्रहण करता हो । नैगमनय एकको प्रधान और दूसरेको अप्रधान रूपमें ग्रहण करता है इस कारण प्रमाण नहीं कहा जा सकता ।

(२) सिर्फ सामान्यको ग्रहण करनेवाला अभिप्राय संग्रहनय कहलाता है । ग्राह्य विषयके भेदसे संग्रहनय दो प्रकारका है–परसंग्रह और अपरसंग्रह । जो अभिप्राय समस्त विशेषोंमें उदासीनता धारण करता है और शुद्ध द्रव्य 'सत्ता' परसामान्य को ही स्वीकार करता है, वह परसं हनय कहलाता है; जैसे–विश्व एक रूप है क्योंकि सत्से अतिरिक्त कहीं कुछ भी नहीं है । द्रव्यत्व आदि अपर सामान्योंको स्वीकार करनेवाला और उनके भेदों

म्बमानः पुनरपरसंग्रहः। संग्रहेण गोचरीकृतानामर्थानां विधिपूर्वकमवहरणं येनाभिसन्धिना क्रियते स व्यवहारः। यथा यत् सत् तद् द्रव्यं पर्यायो वा। यद् द्रव्यं तज्जीवादि षड्विधम्। यः पर्यायः स द्विविधः–क्रमभावी सहभावी चेत्यादि।

ऋजु वर्तमानक्षणस्थायिपर्यायमात्रं प्राधान्यतः सूचयन्नभिप्राय ऋजुसूत्रः। यथा सुखविवर्तः सम्प्रत्यस्ति। अत्र हि क्षणस्थायि सुखाख्यं पर्यायमात्रं प्राधान्येन प्रदर्श्यते, तदधिकरणभूतं पुनरात्मद्रव्यं गौणतया नार्प्यत इति।

कालादिभेदेन ध्वनेरर्थभेदं प्रतिपद्यमानः शब्दः। कालकारकलिंगसङ्ख्यापुरुषोपसर्गाः कालादयः। तत्र बभूव भवति भविष्यति सुमेरुरित्यत्रातीतादिकालभेदेन सुमेरोर्भेदप्रतिपत्तिः, करोति क्रियते कुम्भ इत्यादौ कारकभेदेन, तटस्तटी तटमित्यादौ लिंगभेदेन, दाराः कलत्रमित्यादौ संख्याभेदेन, यास्यसि त्वम्, यास्यति भवानित्यादौ पुरुषभेदेन, सन्तिष्ठते अवतिष्ठते इत्यादावुपसर्गभेदेन।

(विशेषों) के प्रति उपेक्षा धारण करनेवाला दृष्टिकोण अपरसंग्रहनय है। (३) संग्रहनयके विषयभूत पदार्थोंमें विधिपूर्वक भेद करनेवाला अभिप्राय व्यवहारनय है। यथा जो सत् है वह या तो द्रव्य होता है या पर्याय। और जो द्रव्य है उसके जीवादि छह भेद हैं। पर्याय भी दो प्रकारका है–क्रमभावी और सहभावी पर्याय, इत्यादि। तात्पर्य यह है कि वस्तुमें एकत्व (सामान्य) और अनेकत्व (विशेष) दोनों धर्म विद्यमान हैं। संग्रहनय उनमेंसे एकत्वको ग्रहण करता है और व्यवहारनय उनमें अनेकत्व खोजता है। (४) ऋजु अर्थात् सिर्फ वर्त्तमानकालवर्त्ती पर्यायको मान्य करनेवाला अभिप्राय ऋजुसूत्रनय है, यथा–इस समय सुखपर्याय है। यहाँ क्षणस्थायी सुख नामक पर्यायको प्रधान माना गया है किन्तु उसके आधार आत्मद्रव्य को गौण कर दिया है अतः विवक्षित नहीं किया गया है। (५) काल, कारक, लिंग, वचन, पुरुष और उपसर्ग (प्र, पर, सम् आदि) का भेद होनेसे जो शब्दके अर्थमें भेद स्वीकार करता है, वह शब्दनय कहलाता है। यथा–(अ) कालभेद–सुमेरु था, है और होगा यहाँ अतीत, वर्त्तमान और भविष्यत् कालके भेदसे यह नय सुमेरुको भिन्न-भिन्न मानता है। (आ) कारकभेद– कुंभार घटको बनाता है, कुंभारके द्वारा घट बनाया जाता है; यहाँ कर्तृकारक और करणकारकके भेदसे घटमें भेद मानता है। (इ) लिंगभेद–तट, तटी, (या पोथा और पोथी), यहाँ पुंलिग और स्त्रीलिंगके भेदसे तट और तटीमें भेद मानता है। (ई) वचनभेद– 'दारा' पद बहुवचनान्त है और 'कलत्रम्' एक वचनान्त है। यद्यपि दार और कलत्र शब्द एक ही अर्थ–पत्नीके वाचक हैं, मगर वचनभेदके कारण यह नय दोनोंका अर्थ पृथक्–पृथक् मानता है। (उ) पुरुषभेद–'यास्यसि त्वम्, यास्यति भवान्' यहाँ मध्यमपुरुष और प्रथमपुरुषके भेदसे भेद मानता है। (ऊ) उपसर्गभेद–'सन्तिष्ठते' 'अवतिष्ठते' इत्यादिपदोंमें मूलधातु एक ही होने पर भी 'सम्' और 'अव' उपसर्गोंके भेदके कारण शब्दनय अर्थ में भेद स्वीकार करता है।

पर्यायशब्देषु निरुक्तिभेदेन भिन्नमर्थं समभिरोहन् समभिरूढः। शब्दनयो हि पर्यायभेदेऽप्यर्थाभेदमभिप्रैति, समभिरूढस्तु पर्यायभेदे भिन्नानर्थानभिमन्यते। अभेदं त्वर्थगतं पर्यायशब्दानामुपेक्षत इति, यथा इन्दनादिन्द्रः, शकनाच्छक्रः, पूर्दारणात्पुरन्दर इत्यादि।

शब्दानां स्वप्रवृत्तिनिमित्तभूतक्रियाविष्टमर्थं वाच्यत्वेनाभ्युपगच्छन्नेवम्भूतः। यथेन्दनमनुभवन्निन्द्रः। समभिरूढनयो हीन्दनादिक्रियायां सत्यामसत्यां च वासवादेरर्थस्येन्द्रादिव्यपदेशमभिप्रैति, क्रियोपलक्षितसामान्यस्यैव प्रवृत्तिनिमित्तत्वात्, पशुविशेषस्य गमनक्रियायां सत्यामसत्यां च गोव्यपदेशवत्, तथारूढेः सद्भावात्। एवम्भूतः पुनरिन्दनादिक्रियापरिणतमर्थं तत्क्रियाकाले इन्द्रादिव्यपदेशभाजमभिमन्यते। न हि कश्चिदक्रियाशब्दोऽस्यास्ति। गौरश्व इत्यादिजातिशब्दाभिमतानामपि क्रियाशब्दत्वात्, गच्छतीति गौः, आशुगामित्वादश्व इति। शुक्लो, नील इति गुणशब्दाभिमता अपि क्रियाशब्दा एव, शुचीभवनाच्छुक्लो, नीलनान्नील इति। देवदत्तो यज्ञदत्त

---

(६) निरुक्ति (व्युत्पत्ति) के भेदसे पर्यायवाची शब्दोंके अर्थ मे भेद स्वीकार करनेवाला दृष्टिकोण समभिरूढनय कहलाता है। शब्दनय पर्यायवाचक शब्दोंका (यदि उनमें लिंगभेद आदि न हों तो) अर्थ एक ही मानता है, किन्तु यह समभिरूढनय पर्यायभेदसे ही भेद मानता है। पर्यायवाची शब्दों में अर्थगत जो अभेद है, उसकी यह उपेक्षा करता है। यथा—शब्दनयकी दृष्टिसे इन्द्र, शक्रेन्द्र और पुरन्दर—इन तीनों शब्दोंका एक ही अर्थ है, किन्तु समभिरूढनय भिन्न-भिन्न अर्थ मानता है—जो इन्दनक्रिया करे वह इन्द्र, जो शकनक्रिया करे वह शक्र और जो शत्रुनगरको विदारण करे वह पुरन्दर।

(७) शब्दोंकी प्रवृत्तिकी निमित्तरूप क्रियासे युक्त पदार्थको ही शब्दोंका वाच्य स्वीकार करने वाला अभिप्राय एवंभूतनय कहलाता है। यथा—जब इन्दनक्रियाका अनुभव कर रहा हो तभी वह इन्द्र कहलाता है (किसी अन्य क्रियाको करते समय नहीं।) समभिरूढनय इन्दनक्रियाकी विद्यमानता होने पर अथवा न होने पर भी देवोंके स्वामीको 'इन्द्र' शब्द का वाच्य मानता है, क्योंकि उसके मतानुसार क्रियायुक्त सामान्य ही शब्दका प्रवृत्ति—निमित्त है, जैसे गमनक्रियाके होने अथवा न होनेपर भी सास्नादिमान् पशुको 'गो' कहा जाता है। गमन—क्रिया न होने पर भी गाय रूढ़िसे 'गो' कहलाती है। लेकिन एवंभूतनय इस मान्यताको स्वीकार नहीं करता। वह तो इन्दनक्रियायुक्त पदार्थको उस क्रियाके काल में ही 'इन्द्र' कहता है।

एवंभूतनयकी दृष्टि में ऐसा कोई शब्द नहीं है जो क्रियावाचक न हो। (१) 'गो' 'अश्व' आदि शब्द, जो जातिवाचक समझे जाते हैं वे भी वास्तव में क्रियाशब्द हैं—जो गमन करे सो गौ, आशु (शीघ्र) गमन करे सो अश्व। इसी प्रकार (२) गुणवाचक माने जाने वाले 'शुक्ल' नील आदि शब्द भी क्रियाशब्द हैं—शुचि होनेसे 'शुक्ल' और नीलन करनेसे 'नील'

इति यदृच्छाशब्दाभिमता अपि क्रियाशब्दा एव, देव एनं देयात्, यज्ञ एनं देयादिति। संयोगिद्रव्यशब्दः समवाय (यि) द्रव्यशब्दाश्चाभिमताः क्रियाशब्दा एव दण्डोऽस्यास्तीति दण्डी, विषाणमस्यास्तीति विषाणीत्यस्तिक्रियाप्रधानत्वात् । पञ्चतयी तु शब्दानां व्यवहारमात्रात्, न तु निश्चयादित्ययं नयः स्वीकुरुते ।

एतेष्वाद्याश्चत्वारः प्राधान्येनार्थगोचरत्वादर्थनयाः अन्त्यास्तु त्रयः प्राधान्येन शब्दगोचरत्वाच्छब्दनयाः । तथा विशेषग्राहिणोऽर्पितनयाः, सामान्यग्राहिणश्चानर्पितनयाः । तत्रानर्पितनयमते तुल्यमेव रूपं सर्वेषां सिद्धानां भगवताम् । अर्पितनयमते त्वेकद्वित्र्यादिसमयसिद्धाः स्वसमानसमयसिद्धैरेव तुल्या इति । तथा, लोकप्रसिद्धार्थानुवादपरो व्यवहारनयः, यथा पञ्चस्वपि वर्णेषु भ्रमरे सत्सु श्यामो भ्रमर इति व्यपदेशः । तात्त्विकार्थाभ्युपगमपरस्तु निश्चयः, स पुनर्मन्यते पञ्चवर्णो भ्रमरः, बादरस्कन्धत्वेन तच्छरीरस्य पञ्चवर्णपुद्गलैर्निष्पन्नत्वात्, शुक्लादीनां च न्यग्भूतत्वेनानुपल–

कहा जाता है । (३) 'देवदत्त' या 'यज्ञदत्त' आदि यदृच्छाशब्द भी क्रियाशब्द ही हैं–देव जिसे दे या यज्ञ जिसे दे अर्थात् देव या यज्ञ द्वारा जो दिया गया हो वह देवदत्त या यज्ञदत्त कहलाता है । (४) संयोगिद्रव्यशब्द और (५) समवायिद्रव्यशब्द भी क्रियाशब्द ही हैं, जैसे 'दण्डी' और 'विषाणी' शब्द । क्योंकि इनमें भी दण्ड और विषाणके 'होने' क्रियाकी प्रधानता है । शब्दोंके जो उपर्युक्त पाँच प्रकार माने जाते हैं, वह इस नयके अभिप्रायसे व्यवहार मात्र है, निश्चयसे पाँच भेद नहीं हैं ।

इन सात नयोंमें आदिके चार अर्थनय हैं क्योंकि वे प्रधानरूपसे अर्थ (पदार्थ) के संबंध में ही विचार करते हैं और अन्तिम तीन नय शब्दनय हैं क्योंकि वे मुख्य रूपसे शब्दके संबंध में विचार करते हैं ।

अन्यान्य दृष्टियोंसे नयोंके दूसरे प्रकारसे भी भेद किये गये हैं । जैसे–विशेषग्राही अर्पितनय और सामान्यग्राही अनर्पितनय कहलाते हैं । अनर्पितनयके अभिप्रायसे सब सिद्धोंका स्वरूप समान है। अर्पितनयके मतसे एकसमयसिद्धों, द्विसमयसिद्धों या त्रिसमयसिद्धोंका अर्थात् समानसमयके सिद्धोंका स्वरूप ही समान है, विभिन्न समय सिद्धों का स्वरूप समान नहीं है ।

तथा लोकप्रसिद्ध अर्थका अनुभव करनेवाला अर्थात् लोकप्रसिद्धिका अनुकरण करके वस्तुका कथन करनेवाला नय व्यवहारनय कहलाता है । जैसे भ्रमरमें पाँचों वर्ण होने पर भी भ्रमरको श्याम कहना । तात्त्विक पदार्थको स्वीकार करनेवाला नय निश्चय नय कहलाता है। निश्चयनयकी मान्यताके अनुसार भ्रमरमें पाँचों वर्ण विद्यमान हैं, क्योंकि उसका शरीर बादर स्कंध होनेके कारण पाँचों वर्णोंके पुद्गलोंसे बना है । किन्तु शुक्ल आदि अन्य वर्णवाले पुद्–गल कम होनेसे वे हमारी प्रतीतिमें नहीं आते ।

क्षणात् । अथवा एकनयमतार्थग्राही व्यवहारः, सर्वनयमतार्थग्राही च निश्चयः । न चैवं निश्चयस्य प्रमाणत्वेन नयत्वव्याघातः, सर्वनयमतस्यापि स्वार्थस्य तेन प्राधान्याभ्युपगमात् । तथा ज्ञानमात्रप्राधान्याभ्युपगमपरा ज्ञाननयाः । क्रियामात्रप्राधान्याभ्युपगमपराश्च क्रियानयाः । तत्रर्जुसूत्रादयश्चत्वारो नयाश्चारित्रलक्षणायाः क्रियाया एव प्राधान्यमभ्युपगच्छन्ति, तस्या एव मोक्षं प्रत्यव्यवहितकारणत्वात् । नैगमसंग्रहव्यवहारास्तु यद्यपि चारित्रश्रुतसम्यक्त्वानां त्रयाणामपि मोक्षकारणत्वमिच्छन्ति, तथापि व्यस्तानामेव, न तु समस्तानाम्, एतन्मते ज्ञानादित्रयादेव मोक्ष इत्यनियमात्, अन्यथा नयत्वहानिप्रसंगात्, समुदयवादस्य स्थितपक्षत्वादिति द्रष्टव्यम् ।

कः पुनरत्र बहुविषयो नयः को वाऽल्पविषयः ?, इति चेदुच्यते--सन्मात्रगोचरात्संग्रहात्तावन्नैगमो बहुविषयो भावाभावभूमिकत्वात् । सद्विशेषप्रकाशकाद्व्यवहारतः संग्रहः समस्तसत्समूहोपदर्शकत्वाद्बहुविषयः । वर्तमानविषयावलम्बिन ऋजुसूत्रात्कालत्रितयवर्त्यर्थजातावलम्बी व्यवहारो बहुविषयः । कालादिभेदेन भिन्नार्थोपदेशकाच्छब्दात्तद्विपरीतवेदक ऋजुसूत्रो बहुविषयः । न केवलं कालादिभेदेनैवर्जुसूत्रादल्पा-

---

अथवा एक नयके अभिमत अर्थको ग्रहण करनेवाला व्यवहार नय और सर्व नयोंके अभिमत अर्थको स्वीकार करनेवाला निश्चयनय कहलाता है । ऐसा स्वीकार करने पर भी निश्चयनयको प्रमाण नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वह अपने विषयको–सर्वनयोंके मतको प्रधान रूपमें स्वीकार करता है ।

तथा ज्ञानकी ही प्रधानता स्वीकार करनेवाला ज्ञाननय कहलाता है । ऋजुसूत्र आदि चार नय चारित्र रूप क्रियाको ही प्रधान मानते हैं, क्योंकि चारित्रक्रिया ही मोक्षका अव्यवहित कारण है । नैगम, संग्रह और व्यवहारनय यद्यपि चारित्र, श्रुतज्ञान और सम्यक्त्व तीनोंको मोक्षका कारण मानते हैं, किन्तु पृथक्-पृथक् को ही कारण मानते हैं, समुदित तीनोंको नहीं। इन नयोंके अनुसार ऐसा कोई नियम नहीं कि सम्यग्ज्ञान आदि तीनोंसे ही मोक्ष हो । अगर ये नय तीनोंके समुदायसे मोक्ष स्वीकार करलें तो नय एकांगी दृष्टिकोण ही न रह जाएँ । समुदायवाद अर्थात् मिले हुए सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रको मोक्षका कारण मानना सिद्धान्तपक्ष है ।

प्रश्न–उपर्युक्त सात नयोंमें कौन बहुविषयवाला और कौन अल्पविषयवाला है ?

उत्तर–सत्ता मात्रको विषय करनेवाले संग्रहनय की अपेक्षा नैगमनय बहुविषयक है, क्योंकि वह सत्ता और असत्ता-दोनोंको विषय करता है । किसी सत् विषय पदार्थको प्रकाशित करनेवाले व्यवहारनय की अपेक्षा संग्रहनय अधिक विषयवाला है, क्योंकि वह समस्त सत्पदार्थोंके समूहका उपदर्शक है । वर्त्तमानकालीन पदार्थको विषय करनेवाले ऋजुसूत्रनयकी अपेक्षा व्यवहारनय अधिक विषयवाला है, क्योंकि वह त्रिकालवर्त्ती पदार्थ–समूहको ग्रहण करता है । काल आदिके भेदसे पदार्थको भिन्न माननेवाले शब्दनयकी अपेक्षा ऋजुसूत्र बहुत विषयवाला है,

र्थता शब्दस्य, किन्तु भावघटस्यापि सद्भावासद्भावादिनाऽर्पितस्य स्याद् घटः स्यादघट इत्यादिभंगपरिकरितस्य तेनाभ्युपगमात् तस्यर्जुसूत्राद् विशेषिततरत्वोपदेशात्। यद्यपीदृशसम्पूर्णसप्तभंगपरिकरितं वस्तु स्याद्वादिन एव संगिरन्ते, तथापि ऋजुसूत्रकृतैतदभ्युपगमापेक्षयाऽन्यतरभंगेन विशेषितप्रतिपत्तिरत्रादुष्टेत्यदोष इति वदन्ति। प्रतिपर्यायशब्दमर्थभेदमभीप्सतः समभिरूढाच्छब्दस्तद्विषया (द्विपर्यया) नुयायित्वाद्बहुविषयः। प्रतिक्रियं विभिन्नमर्थं प्रतिजानानादेवम्भूतात्समभिरूढः तदन्यथार्थस्थापकत्वाद्बहुविषयः।

नयवाक्यमपि स्वविषये प्रवर्तमानं विधिप्रतिषेधाभ्यां सप्तभंगीमनुगच्छति, विकलादेशत्वात्, परमेतद्वाक्यस्य प्रमाणवाक्याद्विशेष इति द्रष्टव्यम्।

(नयाभासानां निरूपणम्।)

अथ नयाभासाः। तत्र द्रव्यमात्रग्राही पर्यायप्रतिक्षेपी द्रव्यार्थिकाभासः। पर्यायमात्रग्राही द्रव्यप्रतिक्षेपी पर्यायार्थिकाभासः। धर्मिधर्मादीनामे(मै)कान्तिकपार्थक्या-

---

क्योंकि वह कालादिके भेदसे पदार्थमें भेद नहीं मानता। और कालादिके भेदसे अर्थमें भेद माननेके कारण ही शब्दनय ऋजुसूत्रसे अल्पविषयक नहीं, बल्कि शब्दनय (स्वरूपसे) सद्भाव और (पररूपसे) असद्भाव रूपमें विवक्षित *भावघटको कथंचित् घट और कथंचित् अघट, इत्यादि भंगोंमेंसे किसी एक भंगसे युक्त माननेके कारण भी ऋजुसूत्रनय सामान्यतः घटको घट स्वीकार करता है, किन्तु शब्दनय उसी घटको स्वरूपसे अर्थात् स्वपर्यायोंसे सत्, परपर्यायोंसे असत् और स्व-परपर्यायोंसे अवक्तव्य, इत्यादि भंगोंमेंसे किसी एक भंगसे विशिष्ट मानता है। इस कारण भी शब्दनयका विषय ऋजुसूत्रनयसे संकीर्ण है। यद्यपि इस प्रकार सातों भंगोंसे युक्त वस्तुको स्याद्वादी ही स्वीकार करते हैं, किन्तु ऋजुसूत्रनयकी मान्यताकी अपेक्षा शब्दनय विशेष प्रतिपत्ति करता है, इसमें कोई बाधा नहीं है। पर्यायवाचक शब्दोंके भेदसे अर्थमें भेद माननेवाले समभिरूढनय की अपेक्षा शब्दनय अधिक विषयवाला है, क्योंकि वह पर्यायभेदसे वस्तुमें भिन्नता नहीं मानता। क्रियाके भेदसे वस्तुमें स्वीकार करनेवाले एवंभूत नयसे समभिरूढनय बहुविषयक है क्योंकि यह ऐसा नहीं मानता। नयवाक्य भी अपने विषयमें प्रवृत्त होता हुआ विधि और निषेधके द्वारा सप्तभंगीको प्राप्त होता है। वह विकलादेश रूप होता है। प्रमाणवाक्यसे नयवाक्यकी यही विशेषता है।

नयाभासोंका निरूपण

जब कोई नय अपने ग्राह्य अंशको ग्रहण करता हुआ इतर अंशोंका निषेध करता है, उनके प्रति उपेक्षा नहीं रखता, तब वह नयाभास हो जाता है।

द्रव्य मात्रको ग्रहण करनेवाला और पर्यायका निषेध करनेवाला द्रव्यार्थिकनयाभास है। इसी प्रकार पर्याय मात्रको ग्रहण करनेवाला किन्तु द्रव्यका निषेध करनेवाला पर्यायार्थिक

---

*शब्दनय नाम, स्थापना और द्रव्यनिक्षेपको नहीं, केवल भाव निक्षेपको ही स्वीकार करता है।

भिसन्धिर्नैगमाभासः, यथा नैयायिकवैशेषिकदर्शनम् । सत्ताऽद्वैतं स्वीकुर्वाणः सकलविशेषान्निराचक्षाणः संग्रहाभासः यथाऽखिलान्यद्वैतवादिदर्शनानि सांख्यदर्शनं च । अपारमार्थिकद्रव्यपर्यायविभागाभिप्रायो व्यवहाराभासः, यथा चार्वाकदर्शनम्, चार्वाको हि प्रमाणप्रतिपन्नं जीवद्रव्यपर्यायादिप्रविभागं कल्पनारोपितत्वेनापह्नुतेऽविचारितरमणीयं भूतचतुष्टयप्रविभागमात्रं तु स्थूललोकव्यवहारानुयायितया समर्थयत इति । वर्तमानपर्यायाभ्युपगन्ता सर्वथा द्रव्यापलापी ऋजुसूत्राभासः, यथा ताथागतं मतम् । कालादिभेदेनार्थभेदमेवाभ्युपगच्छन् शब्दाभासः, यथा बभूव भवति भविष्यति सुमेरुरित्यादयः शब्दा भिन्नमेवार्थमभिदधति, भिन्नकालशब्दत्वात्ताहृक्सिद्धान्यशब्दवदिति । पर्यायध्वनीनामभिधेयनानात्वमेव कक्षीकुर्वाणः समभिरूढाभासः, यथा इन्द्रः शक्रः पुरन्दर इत्यादयः शब्दा भिन्नाभिधेया एव, भिन्नशब्दत्वात्, करिकुरंगशब्दवदिति । क्रियानाविष्टं वस्तु शब्दवाच्यतया प्रतिक्षिपन्नेवंभूताभासः, यथा विशिष्ट-

---

नयाभास कहलाता है । धर्मी और धर्म अर्थात् द्रव्य और गुणमें, अनेक गुणोंमें अथवा द्रव्योंमें एकान्त भेद स्वीकार करनेवाला नैगमाभास है । जैसे नैयायिक और वैशेषिक दर्शन । एक मात्र सत्ताको अंगीकार करनेवाला और समस्त विशेषोंका निषेध करनेवाला संग्रह नयाभास है, जैसे समस्त अद्वैतवादी दर्शन और सांख्यदर्शन । द्रव्य और पर्यायका अवास्तविक भेद स्वीकार करनेवाला नय व्यवहाराभास कहलाता है, जैसे चार्वाकदर्शन प्रमाणसे सिद्ध जीवद्रव्य और पर्याय आदिके भेदको काल्पनिक कहकर अस्वीकार करता है और स्थूल लोकव्यवहारका अनुयायी होनेसे भूतचतुष्टयका विभाग मात्र स्वीकार करता है ।

केवल वर्तमान पर्यायको स्वीकार करनेवाला और त्रिकालवर्ती द्रव्यका सर्वथा निषेध करनेवाला ऋजुसूत्रनयाभास है, जैसे बौद्ध मत । कालादिके भेदसे अर्थभेदको ही स्वीकार करनेवाला और अभेदका निषेध करनेवाला शब्दनयाभास है, जैसे सुमेरु था, है और होगा; इत्यादि शब्द भिन्न अर्थके ही प्रतिपादक हैं, क्योंकि वे भिन्न कालवाची शब्द हैं, जो भिन्न कालवाची शब्द होते हैं, वे भिन्नार्थक ही होते हैं; जैसे अगच्छत्, पठति, भविष्यति (गया, पढ़ता है, होगा) आदि शब्द ।

पर्याय वाचक शब्दोंके अर्थमें भिन्नता ही माननेवाला और अभिन्नताका निषेध करनेवाला समभिरूढ नयाभास कहलाता है । यथा–इन्द्र, शक्र और पुरन्दर आदि शब्दोंका अर्थ भिन्न-भिन्न है क्योंकि वे शब्द भिन्न-भिन्न हैं; जैसे करी, कुरंग आदि शब्द ।

जिस शब्दसे जिस क्रियाका बोध होता है, वह क्रिया जब किसी वस्तुमें न पाई जाय, तब उस वस्तुके लिए उस शब्दका प्रयोग नहीं ही करना चाहिए, इस प्रकार माननेवाला और अन्य नयोंका निषेध करनेवाला अभिप्राय एवंभूत नयाभास है । जैसे–विशिष्ट चेष्टासे शून्य

चेष्टाशून्यं घटाख्यं वस्तु न घटशब्दवाच्यं, घटशब्दप्रवृत्तिनिमित्तभूतक्रियाशून्यत्वात्, पटवदिति। अर्थाभिधायी शब्दप्रतिक्षेपी अर्थनयाभासः। शब्दाभिधाय्यर्थप्रतिक्षेपी शब्दनयाभासः। अर्पितमभिदधानोऽनर्पितं प्रतिक्षिपन्नर्पितनयाभासः। अनर्पितमभिदधदर्पितं प्रतिक्षिपन्ननर्पिताभासः। लोकव्यवहारमभ्युपगम्य तत्त्वप्रतिक्षेपी व्यवहाराभासः। तत्त्वमभ्युपगम्य व्यवहारप्रतिक्षेपी निश्चयाभासः। ज्ञानमभ्युपगम्य क्रियाप्रतिक्षेपी ज्ञाननयाभासः। क्रियामभ्युपगम्य ज्ञानप्रतिक्षेपी क्रियानयाभास इति।

इति महामहोपाध्यायश्रीकल्याणविजयगणिशिष्यमुख्यपण्डितश्रीलाभविजयगणिशिष्यावतंस-
पण्डितश्रीजीतविजयगणिसतीर्थ्यपण्डितश्रीनयविजयगणिशिष्येण
पण्डितश्रीपद्मविजयगणिसहोदरेण पण्डितयशोविजयगणिना
विरचितायां जैनतर्कभाषायां नयपरिच्छेदः सम्पूर्णः।

घट वस्तु 'घट' शब्दका वाच्य नहीं है, क्योंकि उसमें घट शब्दकी प्रवृत्तिनिमित्त क्रिया नहीं है, जैसे 'पट' शब्दमें।

अर्थका अभिधान करनेवाला और शब्दका निषेध करनेवाला दृष्टिकोण अर्थनयाभास है। शब्दका अभिधान करनेवाला और अर्थका निषेध करनेवाला शब्दनयाभास है। अर्पित (विशेष) को स्वीकार करनेवाला और अनर्पित (सामान्य) का निषेध करनेवाला अर्पित-नयाभास है। इसी प्रकार अनर्पितका विधान करनेवाला और अर्पितका निषेध करनेवाला अनर्पितनयाभास है। लोकव्यवहारको अंगीकार करनेवाला और तत्त्वका निषेध करनेवाला व्यवहारनयाभास है। तत्त्वको अंगीकार करके लोकव्यवहारका निषेध करनेवाला निश्चयाभास है। ज्ञानको स्वीकार कर क्रियाका निषेध करनेवाला ज्ञाननयाभास और क्रियाको स्वीकार करके ज्ञानका निषेध करनेवाला क्रियानयाभास है।

नय-परिच्छेद सम्पूर्ण।

३. निक्षेपपरिच्छेदः ।

(नामादिनिःक्षेपनिरूपणम् ।)

नया निरूपिताः । अथ निःक्षेपा निरूप्यन्ते । प्रकरणादिवशेनाप्रतिपत्त्या-(त्त्या) दिव्यवच्छेदकयथास्थानविनियोगाय शब्दार्थरचनाविशेषा निःक्षेपाः । मंगलादि-पदार्थनिःक्षेपान्नाममंगलादिविनियोगोपपत्तेश्च निःक्षेपाणां फलवत्त्वम्, तदुक्तम्-'अप्रस्तुतार्थापाकरणात् प्रस्तुतार्थव्याकरणाच्च निःक्षेपः फलवान्' (लघी ० स्ववि० ७. २) **इति । ते च सामान्यतश्चतुर्धा-नामस्थापनाद्रव्यभावभेदात् ।**

तत्र प्रकृतार्थनिरपेक्षा नामार्थान्यतरपरिणतिर्नामनिःक्षेपः । यथा सङ्केतितमा-त्रेणान्यार्थस्थितेनेन्द्रादिशब्देन वाच्यस्य गोपालदारकस्य शक्रादिपर्यायशब्दानभिधेया परिणतिरियमेव वा यथान्यत्रावर्तमानेन यदृच्छाप्रवृत्तेन डित्थडवित्थादिशब्देन वाच्या ।

(निक्षेपप्रकरण)

नयोंका निरूपण किया जा चुका है, अब निक्षेपोंका निरूपण किया जाता है ।

शब्द और अर्थकी ऐसी विशेष रचना निक्षेप कहलाती है जिससे प्रकरण आदिके अनु-सार अप्रतिपत्ति आदिका निवारण होकर यथास्थान विनियोग होता है । उदाहरणार्थ मंगल आदि पदार्थोंका निक्षेप करनेसे नाम मंगल आदिका यथावत् विनियोग हो जाता है । यही निक्षेपोंकी सार्थकता है । लघीयस्त्रयमें कहा है निक्षेपकी सार्थकता यही है कि उससे अप्रस्तुत अर्थका निषेध और प्रस्तुत अर्थका निरूपण हो जाता है । सधारणतया निक्षेप चार हैं-(१) नाम (२) स्थापना (३) द्रव्य और (४) भाव ।

प्रकृत अर्थकी अपेक्षा न रखनेवाली नाम या नामवाले पदार्थकी परिणति नाम निक्षेप है । जैसे-संकेत किये हुए, अन्य अर्थ (देवाधिपति) में स्थित इन्द्र आदि शब्दके वाच्य गोपाल पुत्र की शक्र आदि पर्यायवाचक शब्दों द्वारा अनभिधेय परिणति । जो शब्द अन्य अर्थ में स्थित नहीं हैं ऐसे डित्थ डवित्थ आदि यदृच्छा शब्द संकेतित कर लिये जाते हैं, वे भी नाम कहलाते हैं ।

तात्पर्य यह है कि-किसी ने अपने पुत्र का नाम 'इन्द्र' रक्खा, यद्यपि इन्द्र शब्द शक्र का वाचक है मगर पुत्र का नाम इन्द्र रखते समय उसके इस वास्तविक अर्थ पर दृष्टि नहीं रक्खी जाती । जिसका नाम 'इन्द्र' रक्खा गया है वह इन्द्र के पर्याय-वाचक शक्र पुरन्दर आदि शब्दों द्वारा नहीं कहा जा सकता । इसके अतिरिक्त जो शब्द अन्य अर्थ में नियत नहीं हैं, वे भी जब किसी का अभिधान बन जाते हैं तो नाम कहलाते हैं । नाम और नामवान् पदार्थ में उपचार से अभेद होता है । अतः इन्द्र यह 'नाम' नाम कहलाता है, साथ ही 'इन्द्र' नाम वाला व्यक्ति भी इन्द्र कहलाता है ।

तत्त्वतोऽर्थनिष्ठा उपचारतः शब्दनिष्ठा च । मेर्वादिनामापेक्षया यावद्द्रव्यभाविनी, देवदत्तादिनामापेक्षया चायावद्द्रव्यभाविनी, यथा वा पुस्तकपत्रचित्रादिलिखिता वस्त्वभिधानभूतेन्द्रादिवर्णावली।

यत्तु वस्तु तदर्थवियुक्तं तदभिप्रायेण स्थाप्यते चित्रादौ तादृशाकारम्, अक्षादौ च निराकारम्, चित्राद्यपेक्षयेत्वरं नन्दीश्वरचैत्यप्रतिमाद्यपेक्षया च यावत्कथिकं स स्थापनानिःक्षेपः, यथा जिनप्रतिमा स्थापनाजिनः, यथा चेन्द्रप्रतिमा स्थापनेन्द्रः ।

भूतस्य भाविनो वा भावस्य कारणं यन्निक्षिप्यते स द्रव्यनिःक्षेपः, यथाऽनुभूतेन्द्रपर्यायोऽनुभविष्यमाणेन्द्रपर्यायो वा इन्द्रः, अनुभूतघृताधारत्वपर्यायेऽनुभविष्यमाणघृताधारत्वपर्याये च घृतघटव्यपदेशवत्तत्रेन्द्रशब्दव्यपदेशोपपत्तेः । क्वचिदप्राधान्येऽपि द्रव्यनिःक्षेपः प्रवर्तते, यथाऽङ्गारमर्दको द्रव्याचार्यः, आचार्यगुणरहितत्वात् अप्रधानाचार्य इत्यर्थः । क्वचिदनुपयोगेऽपि, यथाऽनाभोगेनेहपरलोकाद्याशंसालक्षणेनाविधिना च भक्त्यापि क्रियमाणा जिनपूजादिक्रिया द्रव्यक्रियैव, अनुपयुक्तक्रियायाः साक्षान्मो-

---

नाम और नामवान् अर्थ की यह परिणति वस्तुतः अर्थनिष्ठ है और उपचारसे शब्दनिष्ठ है। मेरु आदि नामोंकी अपेक्षा यह परिणति यावद्-द्रव्य-भाविनी है अर्थात् जब तक वे द्रव्य हैं तब तक उनका यह नाम भी बना रहता है। मगर देव-दत्त आदि नामोंकी अपेक्षा यह अयावद्द्रव्यभाविनी है (क्योंकि वे नाम द्रव्यके विद्यमान रहने पर भी बदल सकते हैं।) पुस्तक पत्र और चित्र आदि में लिखित वस्तुकी अभिधान रूप इन्द्र ऐसी वर्णावली भी नाम कहलाती है।

जो वस्तु उस मूलभूत अर्थसे रहित हो किन्तु उसीके अभिप्रायसे स्थापित (आरोपित) की जाय वह स्थापनानिक्षेप है। वह चित्र आदिमें तादृशाकार होती है और अक्ष आदिमें निराकार होती है। वह चित्र आदिकी अपेक्षा अल्पकालिक होती है और नन्दीश्वर द्वीपके चैत्योंकी (शाश्वत) प्रतिमाकी अपेक्षा यावत्कथिक (जब तक वह वस्तु है तबतकके लिए) होती है। जैसे जिनप्रतिमा 'स्थापनाजिन' और इन्द्रकी प्रतिमा 'स्थापनेन्द्र' है।

भूतभाव (पर्याय) अथवा भावी-भावका जो कारण निक्षिप्त किया जाता है, वह द्रव्य-निक्षेप कहलाता है। जिस घटमें, भूतकालमें घृत रक्खा गया था अथवा भविष्यमें रक्खा जायगा वह वर्त्तमानमें भी 'घृत-घट' कहलाता है; इसी प्रकार जो भूतकाल में इन्द्र-पर्यायका अनुभव कर चुका है अथवा जो भविष्यमें करेगा, वह वर्त्तमानमें भी इन्द्र कहलाता है। यह द्रव्यनिक्षेप है।

कहीं-कहीं अप्रधानतामें भी द्रव्यनिक्षेप प्रवृत्त होता है, जैसे अंगारों (कोयलों) को मर्दन करने वाला आचार्य 'द्रव्याचार्य' कहलाता है। यहाँ द्रव्याचार्यका अभिप्राय है-आचार्यके गुणोंसे रहित होनेके कारण अप्रधान आचार्य। कहीं-कहीं उपयोग शून्यताको भी 'द्रव्य' कहा है। जैसे-उपयोग-रहित होकर अथवा ऐहिक या पारलौकिक आकांक्षारूप अविधिसे, भक्ति-पूर्वक भी की जानेवाली जिनपूजा आदि क्रिया, द्रव्यक्रिया ही कहलाती है। क्योंकि उपयोग-

क्षांगत्वाभावात् । भक्त्याऽविधिनापि क्रियमाणा सा पारम्पर्येण मोक्षांगत्वापेक्षया द्रव्यतामश्नुते, भक्तिगुणेनाविधिदोषस्य निरनुबन्धीकृतत्वादित्याचार्याः ।

विवक्षितक्रियानुभूतिविशिष्टं स्वतत्त्वं यन्निक्षिप्यते स भावनिःक्षेपः, यथा इन्दनक्रियापरिणतो भावेन्द्र इति ।

ननु भाववर्जितानां नामादीनां कः प्रतिविशेषस्त्रिष्वपि वृत्त्यविशेषात् ?, तथाहि– नाम तावन्नामवति पदार्थे स्थापनायां द्रव्ये चाविशेषेण वर्तते । भावार्थशून्यत्वं स्थापनारूपमपि त्रिष्वपि समानम्, त्रिष्वपि भावस्याभावात् । द्रव्यमपि नामस्थापनाद्रव्येषु वर्तत एव, द्रव्यस्यैव नामस्थापनाकरणात्, द्रव्यस्य द्रव्ये सुतरां वृत्तेश्चेति विरुद्धधर्माध्यासाभावान्नैषां भेदो युक्त इति चेत्; न; अनेन रूपेण विरुद्धधर्माध्यासाभावेऽपि रूपान्तरेण विरुद्धधर्माध्यासात्तद्भेदोपपत्तेः । तथाहि—नामद्रव्याभ्यां स्थापना तावदाकाराभिप्रायबुद्धिक्रियाफलदर्शनाद् भिद्यते, यथा हि स्थापनेन्द्रे लोचनसहस्राद्याकारः, स्थापनाकर्तुश्च सद्भूतेन्द्राभिप्रायो, द्रष्टुश्च तदाकारदर्शनादिन्द्र-

---

शून्यकी क्रिया साक्षात् मोक्षका कारण नहीं होती । भक्तिके साथ अविधिसे की जानेवाली वह क्रिया परम्परासे मोक्षका कारण होनेसे द्रव्यक्रिया कहलाती है । आचार्योंका कथन है कि भक्तिगुण अविधि के दोष को अनुबन्धहीन बना देता है ।

विवक्षित क्रिया की अनुभूतिसे युक्त जो स्वतत्त्व निक्षिप्त किया जाता है वह भावनिक्षेप है, जैसे वर्तमानमें इन्दनक्रिया करनेवाला भावेन्द्र है ।

शंका–भावको छोड़कर नाम स्थापना और द्रव्यमें क्या अन्तर है ? इन तीनोंमें से प्रत्येक में तीनोंकी सत्ता पाई जाती है । जैसे–नाम, नामवान् पदार्थमें, स्थापनामें और द्रव्यमें समान रूपसे रहता है । भाव रूप अर्थसे रहित होना स्थापनाका लक्षण है और वह भी नाम, स्थापना तथा द्रव्यमें है, क्योंकि ये तीनों ही भावसे रहित हैं । और द्रव्य भी नाम, स्थापना तथा द्रव्यमें विद्यमान है, क्योंकि द्रव्यका ही नाम होता है, द्रव्यकी या द्रव्यमें ही स्थापना की जाती है और द्रव्यमें द्रव्य तो स्वभावतः रहता ही है । इस प्रकार नाम, स्थापना और द्रव्यमें विरोधी धर्म नहीं पाये जाते, अतएव इनमें भेद मानना उचित नहीं है ।

समाधान– ऐसा मत कहो । जिस रूपमें ऊपर तीनोंमें अभिन्नता प्रदर्शित की गई है, उस रूपसे भेद न होने पर भी अन्य प्रकारसे उनमें परस्पर विरोधी धर्म पाये जाते हैं और इस कारण उनमें भिन्नता है । वह भिन्नता इस प्रकार है—

आकार, अभिप्राय, बुद्धि, क्रिया और फलदर्शनसे स्थापनाका नाम और द्रव्यसे भेद है । जैसे–स्थापना–इन्द्रमें हजार लोचन आदि इन्द्रका आकार होता है । स्थापना करने वालेका वास्तविक इन्द्रका ही अभिप्राय होता है अर्थात् वह असली इन्द्रके विचारसे ही स्थापना करता है । द्रष्टाको वह आकार देखकर इन्द्रकी बुद्धि उत्पन्न होती है–दर्शक उसे इन्द्र ही समझता है ।

बुद्धिः, भक्तिपरिणतबुद्धीनां नमस्करणादिक्रिया, तत्फलं च पुत्रोत्पत्त्यादिकं संवीक्ष्यते, न तथा नामेन्द्रे द्रव्येन्द्रे चेति ताभ्यां तस्य भेदः। द्रव्यमपि भावपरिणामिकारणत्वान्नामस्थापनाभ्यां भिद्यते, यथा ह्यनुपयुक्तो वक्ता द्रव्यम्, उपयुक्तत्वकाले उपयोगलक्षणस्य भावस्य कारणं भवति, यथा वा साधुजीवो द्रव्येन्द्रः सद्भावेन्द्ररूपायाः परिणतेः, न तथा नामस्थापनेन्द्राविति। नामापि स्थापनाद्रव्याभ्यामुक्तवैधर्म्यादेव भिद्यत इति। दुग्धतक्रादीनां श्वेतत्वादिनाऽभेदेऽपि माधुर्यादिना भेदवन्नामादीनां केनचिद्रूपेणाभेदेऽपि रूपान्तरेण भेद इति स्थितम्।

ननु भाव एव वस्तु, किं तदर्थशून्यैर्नामादिभिरिति चेत्; न; नामादीनामपि वस्तुपर्यायत्वेन सामान्यतो भावत्वानतिक्रमात्, अविशिष्टे इन्द्रवस्तुन्युच्चरिते नामादिभेदचतुष्टयपरामर्शनात् प्रकरणादिनैव विशेषपर्यवसानात्। भावांगत्वेनैव वा नामादीनामुपयोगः, जिननामजिनस्थापनापरिनिर्वृतमुनिदेहदर्शनाद्भावोल्लासानुभवात्। केवलं नामादित्रयं भावोल्लासेऽनैकान्तिकमनात्यन्तिकं च कारणमिति ऐका-

---

भक्त जन नमस्कार आदि क्रिया करते हैं और उस क्रियाका फल पुत्रलाभ आदि भी देखा जाता है। यह सब बातें न नाम-इन्द्रमें होती हैं और न द्रव्य-इन्द्रमें। इन विशेषताओंके कारण नाम और द्रव्यसे स्थापना निक्षेप भिन्न है।

अब द्रव्यनिक्षेपको लीजिए। वह भावका परिणाभी कारण होनेसे नाम एवं स्थापनासे भिन्न है। जैसे—उपयोगशून्य वक्ता द्रव्य कहलाता है मगर जब वही उपयुक्त होता है तो उपयोग रूप भावका कारण बन जाता है। अथवा जैसे साधुका जीव द्रव्येन्द्र है और वह भाव-इन्द्ररूप पर्यायका कारण होता है अर्थात् द्रव्येन्द्ररूप साधुजीव ही आगे जाकर भावेन्द्ररूप पर्यायमें परिणत हो जाता है। मगर नामेन्द्र या स्थापनेन्द्रमें यह बात नहीं होती। स्थापना और द्रव्यकी जो विशेषताएँ बतलाई गई हैं, उनके कारण नाम भी इन दोनोंसे भिन्न है। अतएव यह सिद्ध हुआ कि जैसे दूध और तक्रमें श्वेतता समान होनेपर भी माधुर्य आदि गुणोंसे भेद है, उसी प्रकार किन्हीं बातोंसे अभेद होनेपर भी नाम, स्थापना और द्रव्यमें दूसरे रूपसे भेद है।

शंका—एक मात्र भाव ही वस्तु है, भावरूप अर्थसे शून्य नाम आदि तीनोंको स्वीकार करनसे क्या लाभ?

समाधान—नाम आदि भी वस्तुके ही पर्याय हैं, अतएव साधारणतया उनमें भी भावपन है। जब कोई 'इन्द्र' ऐसा सामान्यपद उच्चारण करता है तब पहले तो नामादि चारोंका ही खयाल आता है। बादमें प्रकरण आदिसे विशेषका ज्ञान होता है। अथवा यही कहना चाहिए कि भावके कारणके रूपमें ही नामादि तीनोंका उपयोग होता है, क्योंकि 'जिन' के नाम, 'जिन' की स्थापना और मृत मुनिके देह (द्रव्य) के दर्शनसे भावमें उल्लासका अनुभव होता है। हाँ, नामादि तीनों भावके उल्लासमें ऐकान्तिक और आत्यन्तिक कारण नहीं हैं। इसी कारण

न्तिकात्यन्तिकस्य भावस्याभ्यर्हितत्वमनुमन्यन्ते प्रवचनवृद्धाः । एतच्च भिन्नवस्तुगत-नामाद्यपेक्षयोक्तम् । अभिन्नवस्तुगतानां तु नामादीनां भावाविनाभूतत्वादेव वस्तुत्वम्, सर्वस्य वस्तुनः स्वाभिधानस्य नामरूपत्वात्, स्वाकारस्य स्थापनारूपत्वात्, कारणतायाश्च द्रव्यरूपत्वात्, कार्यापन्नस्य च स्वस्य भावरूपत्वात् । यदि च घटनाम घट-धर्मो न भवेत्तदा ततस्तत्संप्रत्ययो न स्यात्, तस्य स्वापृथग्भूतसंबन्धनिमित्तकत्वा-दिति सर्वं नामात्मकमेष्टव्यम् । साकारं च सर्वं मति-शब्द-घटादीनामाकारवत्त्वात्, नीलाकारसंस्थानविशेषादीनामाकाराणामनुभवसिद्धत्वात् । द्रव्यात्मकं च सर्वं उत्फण-विफणकुण्डलिताकारसमन्वितसर्पवत् विकाररहितस्याविर्भावतिरोभावमात्रपरिणा-मस्य द्रव्यस्यैव सर्वत्र सर्वदानुभवात् । भावात्मकं च सर्वं परापरकार्यक्षणसन्तानात्म-कस्यैव तस्यानुभवादिति चतुष्टयात्मकं जगदिति नामादिनयसमुदयवादः ।

प्रवचन–वृद्ध आचार्य ऐकान्तिक और आत्यन्तिक भावको अभ्यर्हित (सबसे बढ़कर) मानते हैं।

ऊपर जो समाधान किया गया है, वह विभिन्न वस्तुगत नाम आदिकी अपेक्षासे है। एक ही वस्तुमें रहे हुए नामादि तो भावके अविनाभावी होनेके कारण ही वस्तुरूप हैं। क्योंकि प्रत्येक वस्तुका अपना–अपना अभिधान नाम है, अपना–अपना आकार–स्थापना है, (भावी पर्यायके प्रति) अपनी–अपनी कारणता द्रव्य है और वर्त्तमान पर्यायिरूप वह स्वयं भाव है।

घटका नाम घटका धर्म है। ऐसा न होता तो 'घट' शब्द सुननेसे घटकी प्रतीति न होती। नाम अपनेसे अभिन्न नामवान् पदार्थमें संबंधका कारण है अर्थात् जब श्रोता 'घट' नामको श्रवण करता है तो उसे पट आदिसे भिन्न और अपनेसे अभिन्न 'घट' पदार्थका ही बोध होता है। अतएव सभी पदार्थोंको नामरूप मानना चाहिए।

सभी पदार्थ साकार। (स्थापनारूप) हैं, क्योंकि मति, शब्द और घटादि सभीमें आकार होता है। नील आदि तथा संस्थानविशेष आदि आकार अनुभवसे सिद्ध हैं।

सभी पदार्थ द्रव्यात्मक हैं। उत्फण विफण और कुंडलित (गोलाकारयुक्त) आकारों–वाले सर्प के समान निर्विकार, केवल आविर्भाव-तिरोभाव परिणामवाले द्रव्यकी ही सर्वत्र और सर्वदा प्रतीति होती है। सर्प कभी फन फैला लेता है, कभी सिकोड़ लेता है, कभी गोलमोल हो जाता है, कभी लंबा फैल जाता है, मगर सभी अवस्थाओंमें सर्प द्रव्य तो वही का वही प्रतीत होता है। किसी पर्यायका आविर्भाव और किसीका तिरोभाव हो जाने पर भी द्रव्यमें किसी प्रकारका विकार नहीं होता। सभी पदार्थ इसी प्रकार द्रव्यरूप हैं।

सब पदार्थ भावात्मक अर्थात् पर्यायरूप हैं। क्योंकि एकके बाद दूसरे और दूसरेके बाद तीसरे पर्यायकी परम्परा चलती हुई प्रतीत हो रही है। इस प्रकार सब पदार्थ परापर कार्य-क्षणोंकी सन्तान रूप ही अनुभवमें आ रहे हैं। इस प्रकार जगत् अर्थात् जगत्के समस्त पदार्थ नामादि-चतुष्टयमय हैं। यह नामनय, स्थापनानय, द्रव्यनय और भावनयका समुदयवाद है।

(२. निःक्षेपाणां नयेषु योजना।)

अथ नामादिनिक्षेपा नयैः सह योज्यन्ते। तत्र नामादित्रयं द्रव्यास्तिकनयस्यैवाभिमतम्, पर्यायास्तिकनयस्य च भाव एव। आद्यस्य भेदौ संग्रहव्यवहारौ, नैगमस्य यथाक्रमं सामान्यग्राहिणो विशेषग्राहिणश्च अनयोरेवान्तर्भावात्। ऋजुसूत्रादयश्च चत्वारो द्वितीयस्य भेदा इत्याचार्यसिद्धसेनमतानुसारेणाभिहितं जिनभद्रगणिक्षमाश्रमणपूज्यपादैः–

"नामाइतियं दव्वट्ठियस्य भावो अ पज्जवणयस्स।
संगहववहारा पढमगस्स सेसा उ इयरस्स॥"

इत्यादिना विशेषावश्यके। स्वमते तु नमस्कारनिक्षेपविचारस्थले–

"भावं चिय सद्दणया सेसा इच्छन्ति सव्वणिक्खेवे" (२८४७)

इति वचसा त्रयोऽपि शब्दनयाः शुद्धत्वाद्भावमेवेच्छन्ति ऋजुसूत्रादयस्तु, चत्वारश्चतुरोऽपि निक्षेपानिच्छन्ति अविशुद्धत्वादित्युक्तम्। ऋजुसूत्रो नामभावनिक्षेपावेवेच्छतीत्यन्ये; तत्र (तन्न); ऋजुसूत्रेण द्रव्याभ्युपगमस्य सूत्राभिहितत्वात्, पृथक्त्वाभ्युपगमस्य परं निषेधात्। तथा च सूत्रम्––"उज्जुसुअस्स एगे अणुवउत्ते आगमओ एगं दव्वावस्सयं, पुहत्तं नेच्छइ त्ति" (अनुयो० सू० १४) कथं चायं पिण्डावस्थायां सुवर्णा-

(निक्षेपोंकी नयोंमें योजना)

अब नामनिक्षेप आदिकी नयोंमें योजना करते हैं। चार निक्षेपोंमेंसे नाम, स्थापना और द्रव्यनिक्षेपको द्रव्यार्थिकनय ही स्वीकार करता है। भावनिक्षेपको पर्यायार्थिकनय मान्य करता है।

द्रव्यार्थिकनयके दो भेद हैं। संग्रह और व्यवहार, क्योंकि सामान्यग्राही नैगमनयका संग्रहनयमें और विशेषग्राही नैगमनयका व्यवहारनयमें समावेश हो जाता है। ऋजुसूत्र आदि चार भेद पर्यायार्थिकनयके हैं। आचार्य सिद्धसेन दिवाकरके इस मतके अनुसार जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ने विशेषावश्यकमें कहा है–नामादि तीन निक्षेप द्रव्यार्थिकनयको और भावनिक्षेप पर्यायार्थिकनयको मान्य है। संग्रह और व्यवहारनय द्रव्यार्थिकके भेद हैं और ऋजुसूत्र आदि शेष नय पर्यायार्थिकके भेद हैं। किन्तु जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ने अपने निजके मतके अनुसार नमस्कारके निक्षेपोंका विचार करते हुए ऐसा कहा है–शब्दनय अर्थात् शब्द, समभिरूढ और एवंभूतनय भावनिक्षेप को ही स्वीकार करते हैं और शेष नय सभी निक्षेपों को स्वीकार करते हैं। तीनों शुद्धनय शुद्ध होने के कारण भाव को ही मानते हैं किन्तु ऋजुसूत्र आदि चारों निक्षेपोंको स्वीकार करते हैं। किसीका कहना है कि ऋजुसूत्रनय नाम और भाव निक्षेपोंको ही अंगीकार करता है, किन्तु यह कथन ठीक नहीं है। ऋजुसूत्रनयका द्रव्यनिक्षेपको स्वीकार करना सूत्रोक्त है। यह नय केवल पृथक्त्व (अनेकता) का ही निषेध करता है। अनुयोगद्वारसूत्रमें कहा है–'उज्जु सुअस्स' इत्यादि, अर्थात्-ऋजुसूत्रनयके अभिप्रायसे एक अनुपयुक्त (उपयोगशून्य) पुरुष आगमसे एक द्रव्यावश्यक है; यह नय पृथक्त्व (अनेकत्व) नहीं मानता।

दिद्रव्यमनाकारं भविष्यत्कुण्डलादि-पर्यायलक्षणभावहेतुत्वेनाभ्युपगच्छन् विशिष्टेन्द्रा-द्यभिलापहेतुभूतां साकारामिन्द्रादिस्थापनां नेच्छेत् ?, न हि दृष्टेऽनुपपन्नं नामेति। किञ्च, इन्द्रादिसञ्ज्ञामात्रं तदर्थरहितमिन्द्रादिशब्दवाच्यं वा नामेच्छन् अयं भावकारण-त्वाविशेषात् कुतो नामस्थापने नेच्छेत् ? प्रत्युत सुतरां तदभ्युमगमो न्याय्यः। इन्द्र-मूर्तिलक्षणद्रव्य-विशिष्टतदाकाररूपस्थापनयोरिन्द्रपर्यायरूपे भावे तादात्म्यसंबन्धेना-वस्थितत्वात्तत्र वाच्यवाचकभावसंबन्धेन संवद्धान्नाम्नोऽपेक्षया सन्निहिततरकारण-त्वात्। सङ्ग्रहव्यवहारौ स्थापनावर्जांस्त्रीन्निक्षेपानिच्छत इति केचित्; तन्नानवद्यं यतः संग्रहिकोऽसंग्रहिकोऽनर्पितभेदः परिपूर्णो वा नैगमस्तावत् स्थापनामिच्छतीत्यव-श्यमभ्युपेयम्, संग्रहव्यवहारयोरन्यत्र द्रव्यार्थिके स्थापनाभ्युपगमावर्जनात्। तत्राद्यपक्षे संग्रहे स्थापनाभ्युपगमप्रसंगः, संग्रहनयमतस्य संग्रहिकनैगममताविशेषात्। द्वितीये व्यवहारे तदभ्युपगमप्रसंगः, तन्मतस्य व्यवहारमतादविशेषात्। तृतीये च निरपेक्षयोः

जब ऋजुसूत्रनय पिंडावस्थामें कुंडल आदि आकारसे रहित सुवर्णद्रव्यको, भविष्यमें होनेवाले कुंडल आदि पर्याय रूप भावका कारण होनेसे स्वीकार करता है तो जो इन्द्र आदि-के अभिलापका कारण है और साकार है–अर्थात् जिसे देखकर 'इन्द्र' ऐसा शब्द प्रयोग होता है और जिसमें इन्द्रका आकार भी विद्यमान है, ऐसी स्थापनाको क्यों स्वीकार नहीं करेगा ? और जब यह नय इन्द्ररूप अर्थसे रहित 'इन्द्र' इस नाम मात्रको इन्द्र पदका वाच्य मानता है तो फिर नाम और स्थापनाको क्यों न मानेगा ? आखिर वे भी तो (द्रव्यकी भाँति) भावके कारण ही हैं। उनको मानना तो न्यायसंगत ही है। इन्द्रमूर्ति रूप द्रव्य और इन्द्रका विशिष्ट आकार रूप स्थापना, यह दोनों इन्द्रपर्याय रूप भावमें तादात्म्य संबंधमे रहते हैं, जब कि नाम सिर्फ वाच्य-वाचक संबंधसे ही रहता है। अतएव नामकी अपेक्षा द्रव्य और स्थापना भावसे निकटतर हैं।

कोई कहते हैं–संग्रह और व्यवहारनय स्थापनाको छेड़ कर तीन निक्षेपोंको स्वीकार करते हैं, किन्तु यह कथन भी निर्दोष नहीं है। यह तो मानना ही पड़ेगा कि संग्रहिक नैगम, असंग्रहिक नैगम या भेदनिरपेक्ष परिपूर्ण नैगमनय स्थापनाको तो स्वीकार करता ही है क्योंकि संग्रह और व्यवहारको छोडकर अन्यत्र द्रव्यार्थिकमें स्थापनाका स्वीकार निषिद्ध नहीं है। अर्थात् सिर्फ यही कहा गया है कि संग्रह और व्यवहारनय स्थापना निक्षेपको स्वीकार नहीं करते। ऐसी स्थितिमें यदि नैगम नय स्थापना निक्षेपको स्वीकार करता है तो पूर्वोक्त तीन प्रकारके नैगमोंमेंसे कौन-सा नैगमनय स्वीकार करता है ? यदि संग्रहिक नैगम स्थाप-नाको स्वीकार करता है यह पक्ष मानना हो तो इस प्रथम पक्षमें, संग्रहनयके मतमें स्थाप-नाको स्वीकार करनेका प्रसंग आता है, क्योंकि संग्रहनयकी मान्यता संग्रहिकनैगमसे भिन्न नहीं है। यदि दूसरा (असंग्रहिकनैगमनयका) पक्ष स्वीकार किया जाय तो यह मानना होगा कि व्यवहारनय स्थापनाको स्वीकार करता है, क्योंकि असंग्रहिकनयका मत व्यवहारनयसे

संग्रहव्यवहारयोः स्थापनानभ्युपगमोपपत्तावपि समुदितयोः संपूर्णनैगमरूपत्वात्तदभ्युपगमस्य दुर्निवारत्वम्, अविभागस्थान्नैगमात्प्रत्येकं तदेकैकभागग्रहणात् । किञ्च, संग्रहव्यवहारयोर्नैगमान्तर्भावात्स्थापनाभ्युपगमलक्षणं तन्मतमपि तत्रान्तर्भूतमेव, उभयधर्मलक्षणस्य विषयस्य प्रत्येकमप्रवेशेऽपि स्थापनालक्षणस्यैकधर्मस्य प्रवेशस्य सूपपादत्वात्,स्थापनासामान्यतद्विशेषाभ्युपगममात्रेणैव संग्रहव्यवहारयोर्भेदोपपत्तेरिति यथागमं भावनीयम् । एतैश्च नामादिनिक्षेपैर्जीवादयः पदार्था निक्षेप्याः ।

(जीवविषये निःक्षेपाः)

तत्र यद्यपि यस्य जीवस्याजीवस्य वा जीव इति नाम क्रियते स नामजीवः, देवतादिप्रतिमा च स्थापनाजीवः, औपशमिकादिभावशाली च भावजीव इति जीवविषयं निक्षेपत्रयं सम्भवति, न तु द्रव्यनिक्षेपः । अयं हि तदा सम्भवेत्, यद्यजीवः सन्नायत्यां जीवोऽभविष्यत्, यथाऽदेवः सन्नायत्यां देवो भविष्यत् (न्) द्रव्यदेव इति। न चैतदिष्टं सिद्धान्ते, यतो जीवत्वमनादिनिधनः पारिणामिको भाव इष्यत इति ।

भिन्न नहीं है । यदि तीसरा पक्ष (सम्पूर्ण नैगमनय) स्वीकार किया जाय तो भी स्थापनाको स्वीकार करना अनिवार्य होगा, क्योंकि जब निरपेक्ष संग्रह और व्यवहार स्थापनाको स्वीकार नहीं करते हैं तो दोनों समुदित हो कर संपूर्ण नैगमरूप होकर उसे स्वीकार करेंगे ही । निर्विभाग नैगमनयके एक-एक भागको ही संग्रह और व्यवहार ग्रहण करते हैं। इसके अतिरिक्त जब संग्रह और व्यवहारनय नैगमनयके अन्तर्गत हैं तो नैगमका मत भी उनके अन्तर्गत समझना चाहिए अर्थात् जो मत नैगमका है वही संग्रह और व्यवहारका भी होना चाहिए । उभय धर्म रूप विषय (सामान्य-विशेष) किसी एक में भले ही अन्तर्गत नहीं हो सकता, फिर भी स्थापना रूप एक धर्मका प्रवेश तो हो ही सकता है । स्थापनाके दो भेद–स्थापना–सामान्य और स्थापना-विशेष मान लेनेसे ही संग्रह और व्यवहारका भेद संगत हो जायगा, इत्यादि विचार आगमके अनुसार करना चाहिए । इन नामादि चार निक्षेपोंसे जीव–आदि पदार्थोंका न्यास करना चाहिए ।

(जीवके विषयमें निक्षेप)

किसी जीवका या अजीवका 'जीव' ऐसा नाम रख दिया जाता है, वह नामजीव कहलाता है । देवता आदिकी प्रतिमा स्थापनाजीव है । जो औपशमिक आदि भावोंसे युक्त है वह भावजीव है । इस प्रकार जीवके विषयमें तीन ही निक्षेप घटित हो सकते हैं, द्रव्यनिक्षेप नहीं । यदि कोई वर्त्तमानमें अजीव हो और भविष्यमें जीव होनेवाला हो तो उसे द्रव्यजीव कहा जा सकता था; जैसे वर्त्तमानमें जो देव नहीं है किन्तु भविष्यमें होनेवाला है, उसे द्रव्यदेव कहते हैं । मगर जीवके विषयमें ऐसा माना नहीं जा सकता । वर्त्तमानमें अजीव भविष्यमें जीव होगा, यह सिद्धान्तमें अभिमत नहीं है । जीवत्व अनादि-निधन और पारिणा-

तथापि गुणपर्यायवियुक्तत्वेन बुद्धया कल्पितोऽनादिपारिणामिकभावयुक्तो द्रव्यजीवः, शून्योऽयं भंग इति यावत्, सतां गुणपर्यायाणां बुद्धयापनयस्य कर्तुमशक्यत्वात् । न खलु ज्ञानायत्तार्थपरिणतिः, किन्तु अर्थो यथा यथा विपरिणमते तथा तथा ज्ञानं प्रादुरस्तीति । न चैवं नामादिचतुष्टयस्य व्यापिताभंगः, यतः प्रायः सर्वपदार्थेष्वन्येषु तत् सम्भवति । यद्यत्रैकस्मिन्न सम्भवति नैतावता भवत्यव्यापितेति वृद्धाः । जीव-शब्दार्थज्ञस्तत्रानुपयुक्तो द्रव्यजीव इत्यप्याहुः । अपरे तु वदन्ति–अहमेव मनुष्यजीवो (द्रव्यजीवो)ऽभिधातव्यः उत्तरं देवजीवमप्रादुर्भूतमाश्रित्य अहं हि तस्योत्पित्सोर्देव-जीवस्य कारणं भवामि, यतश्चाहमेव तेन देवजीवभावेन भविष्यामि, अतोऽहमधुना द्रव्यजीव इति । एतत्कथितं तैर्भवति–पूर्वः पूर्वो जीवः परस्य परस्योत्पित्सोः कार-णमिति । अस्मिश्च पक्षे सिद्ध एव भावजीवो भवति, नान्य इति–एतदपि नानवद्य-मिति तत्त्वार्थटीकाकृतः ।

इदं पुनरिहावधेयं–इत्थं संसारिजीवे द्रव्यत्वेऽपि भावत्वाविरोधः, एकवस्तुग-तानां नामादीनां भावाविनाभूतत्वप्रतिपादनात् । तदाह भाष्यकारः–

मिक भाव है । तथापि बुद्धिसे यह कल्पना करलें कि गुण और पर्यायसे रहित अनादि पारि-णामिक भाव (जीवत्व) से युक्त द्रव्य जीव कहलाता है; भाव यह भंग शून्य ही होगा, क्योंकि ऐसा कोई जीव हो नहीं सकता । विद्यमान गुणों और पर्यायोंको कल्पना मात्रसे हटाया तो नहीं जा सकता ! पदार्थका परिणमन ज्ञानके अधीन नहीं है; वरन् पदार्थका जैसा-जैसा परिणमन होता है वैसा ही वैसा ज्ञान उत्पन्न होता है ।

जीवमें द्रव्य निक्षेप घटित न होनेसे नामादि चारों निक्षेपोंकी व्यापकता भंग हो जाती है, ऐसा नहीं समझना चाहिए, क्योंकि प्रायः अन्य सब पदार्थोंमें वे व्याप्त हैं । प्राचीन आचा-र्योंका कथन है कि कहीं एकाध पदार्थमें घटित न होने मात्रसे उनकी व्यापकता नहीं मिट सकती । उनका यह भी कहना है कि जो 'जीव' शब्दके अर्थको जानता है किन्तु उसमें उप-योग नहीं लगाये है वह द्रव्यजीव है ।

किन्हींका कहना है–'जो अभी उत्पन्न नहीं हुआ ऐसे उत्तरकालीन देवजीवकी अपेक्षा मैं मनुष्यजीव ही द्रव्यजीव हूँ, ऐसा कहना चाहिए, क्योंकि उत्पन्न होनेवाले उस देवजीवका मैं कारण हूँ । इस कारण इस समय मैं द्रव्यजीव हूँ' । इनके कथनका अभिप्राय यह निकला कि पहले-पहले वाला जीव अगले-अगले उत्पन्न होने वाले जीवका कारण है । इस पक्षमें केवल सिद्ध जीव ही भावजीव हो सकेंगे । उनके अतिरिक्त कोई भावजीव न रहेगा–सभी द्रव्यजीव ठहरेंगे । अतएव तत्त्वार्थके टीकाकारका कथन है कि यह मत ठीक नहीं है ।

यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है–इस प्रकार सभी संसारी जीव द्रव्यजीव हों तो भी उनमें भाव जीवत्वका विरोध नहीं होगा, क्योंकि एक वस्तुगत नाम आदि भावके अविना-भावी होते हैं । भाष्यकार कहते हैं–

"अहवा वत्थूभिहाणं, नामं ठवणा य जो तयागारो ।
कारणया से दव्वं, कज्जावन्नं तयं भावो ॥१॥" (विशेषा. ६०)

इति । केवलमविशिष्टजीवापेक्षया द्रव्यजीवत्वव्यवहार एव न स्यात्, मनुष्यादेर्दे-वत्वादिविशिष्टजीवं प्रत्येव हेतुत्वादिति अधिकं नयरहस्यादौ विवेचितमस्माभिः ॥

॥ इति महामहोपाध्यायश्रीकल्याणविजयगणिशिष्यमुख्यपण्डितश्रीलाभविजयगणिशिष्यावतंस-पण्डितश्रीजीतविजयगणिसतीर्थ्यपण्डितश्रीनयविजयगणिशिष्येण पण्डितश्रीपद्म-विजयगणिसोदरेण पण्डितयशोविजयगणिना विरचितायां जैनतर्कभाषायां निक्षेपपरिच्छेदः संपूर्णः, तत्संपूर्त्तौ च संपूर्णेयं जैनतर्कभाषा ॥

॥ स्वस्तिश्रीश्रमणसंघाय ॥

सूरिश्रीविजयादिदेवसुगुरोः पट्टाम्बराहर्मणौ,
सूरिश्रीविजयादिसिंहसुगुरौ शक्रासनं भेजुषि ।
तत्सेवाऽप्रतिमप्रसादजनितश्रद्धानशुद्धया कृतः,
ग्रन्थोऽयं वितनोतु कोविदकुले मोदं विनोदं तथा ॥ १ ॥
यस्यासन् गुरवोऽत्र जीतविजयप्राज्ञाः प्रकृष्टाशयाः,
भ्राजन्ते सनया नयादिविजयप्राज्ञाश्च विद्याप्रदाः ।
प्रेम्णां यस्य च सद्म पद्मविजयो जातः सुधीः सोदरः,
तेन न्यायविशारदेन रचिता स्तात्तर्कभाषा मुदे ॥ २ ॥
तर्कभाषामिमां कृत्वा मया यत्पुण्यमर्जितम् ।
प्राप्नुयां तेन विपुलां परमानन्दसम्पदम् ॥ ३ ॥
पूर्वं न्यायविशारदत्वविरुदं काश्यां प्रदत्तं बुधैः,
न्यायाचार्यपदं ततः कृतशतग्रन्थस्य यस्यार्पितम् ।
शिष्यप्रार्थनया नयादिविजयप्राज्ञोत्तमानां शिशुः
तत्त्वं किञ्चिदिदं 'यशोविजय' इत्याख्याभृदाख्यातवान् ॥ ४ ॥

'अथवा वस्तु का अभिधान नाम है, उसका आकार स्थापना है, भावी पर्यायके प्रति कारणता द्रव्य है और कार्यापन्न वह वस्तु भाव है ।

ऐसा मानने पर केवल सामान्य जीवकी अपेक्षासे द्रव्यजीव का व्यवहार नहीं हो सकेगा, क्योंकि मनुष्य आदि देव आदि विशिष्ट जीवके प्रति ही कारण हैं । इस विषय का विशेष विवेचन हमने नयरहस्य आदि ग्रंथों में किया है ।

—: निक्षेप परिच्छेद संपूर्ण हुवा और जैनतर्क भाषा भी संपूर्ण हुई :—

हिन्दी-अनुवाद-सहिता

जैन तर्क भाषा

— समाप्त —

॥ भाषाटिप्पणानि ॥

डॉ० इंद्रचंद्र शास्त्री, एम्. ए. पी. एच्-डी

पृष्ठ १, पं. ४ प्रमाण—प्रमाण शब्द की व्याख्या को लेकर भारतीय दर्शनशास्त्रों में बहुत ऊहापोह हुआ है। इसकी व्युत्पत्ति दो प्रकार से की जाती है–१) 'प्रमीयते अनेनेति प्रमाणम्' और २) 'प्रमितिः प्रमाणम्'। प्रथम व्युत्पत्ति करण-साधन है, वहाँ ज्ञान के साधन को प्रमाण माना गया है। दूसरी व्युत्पत्ति भाव-साधन है, वहाँ ज्ञान या अनुभूति को ही प्रमाण माना गया है। न्याय तथा मीमांसा प्रथम व्युत्पत्ति को लेकर चलते हैं, और बौद्ध, जैन, वेदांत आदि द्वितीय व्युत्पत्ति को।

न्याय-दर्शन के अनुसार ज्ञान की चार अवस्थाएँ हैं। १) सन्निकर्ष–इंद्रिय और विषय का संबंध २) निर्विकल्पकज्ञान– ३) सविकल्पकज्ञान– ४) हानोपादानबुद्धि–

उसका कथन है कि 'अयं घटः' आदि प्रत्येक ज्ञान विशिष्ट या सप्रकारक होता है। यहाँ 'घटः' का अर्थ है 'घटत्व-विशिष्टघट'। इसी को 'घटत्वप्रकारक-घटविशेष्यक-ज्ञान' कहा जाता है। यह तृतीय अवस्था है, जिसे प्रमिति या ज्ञान कहा जाता है। पूर्ववर्त्ती दो अवस्थाओं में सन्निकर्ष प्रमाण है और निर्विकल्पक ज्ञान मध्यवर्त्ती व्यापार। हानोपादन बुद्धि ज्ञान का फल है। कहीं-कहीं द्वितीय अवस्था को ज्ञान और तृतीय को फल बताया गया है। इस प्रकार प्रत्येक ज्ञान तीन अवस्थाओं में विभक्त हो जाता है– १) प्रमाण २) प्रमिति और ३) फल।

जैन तथा बौद्धदर्शन सन्निकर्ष को प्रमाण मानने के लिए तैयार नहीं हैं। उनका कथन है कि ज्ञान और उसका फल चेतना की ही दो अवस्थाएँ हैं। प्रथम अनुभूति प्रमाण कही जाती है और द्वितीय फल।

दूसरा विवाद इस प्रश्न को लेकर है कि ज्ञान विषय को जानने के साथ अपने को भी जानता है या नहीं। न्यायदर्शन का कथन है कि ज्ञान केवल विषय को अभिव्यक्त करता है, अपने आप को नहीं। अपने आप को अभिव्यक्त करने के लिए उसे ज्ञानांतर की आवश्यकता होती है। द्वितीयज्ञान प्रथम ज्ञान को अभिव्यक्त करता है और तृतीय ज्ञान द्वितीय को। इस प्रकार जब तक अपेक्षा बनी रहती है। उत्तरोत्तर ज्ञान होते चले जाते हैं। जैन, बौद्ध एवं वेदांत दर्शनों का कथन है कि प्रत्येक ज्ञान वस्तुप्रकाशन के साथ अपने को भी प्रकाशित करता है। उसे प्रकाशित होने के लिए ज्ञानांतर की आवश्यकता नहीं होती। प्रदीप के समान वह वस्तु को आलोकित करता है और स्वयं भी आलोकित होता है, इस लिए जैन-आचार्य प्रमाण की परिभाषा में 'स्व' शब्द का संनिवेश करते हैं।

अद्वैत वेदांत तथा बौद्धों की योगाचार परंपराएँ बाह्य जगत् को सत्य नहीं मानतीं। उनकी दृष्टि में बाह्य वस्तुओं की प्रतीति मिथ्या है। किंतु जैनदर्शन बाह्य जगत् को सत्य मानता है। फलस्वरूप बाह्य वस्तुओं के ज्ञान को प्रमाणकोटि में रखता है। इसी लिए 'पर' शब्द का संनिवेश किया जाता है।

बौद्धों का कथन है कि वस्तु की सर्वप्रथम प्रतीति निर्विकल्पक होती है। तत्पश्चात् उस पर कल्पनाओं का जाल खडा किया जाता है। मिथ्यात्व केवल कल्पनाओं में रहता है। अंधेरे में एक आकार दिखाई देता है, कोई वहाँ साँप की कल्पना करता है और कोई रस्सी की। कल्पना से पहले की प्रतीति सत्य एवं वस्तु-स्पर्शी होती है। उस पर रस्सी आदि की कल्पनाएँ हमारी ओर से की जाती हैं और वे सभी मिथ्या हैं

इसके विपरीत जैनदर्शन का कथन है कि प्रत्येक अनुभूति प्रारंभ में निर्विकल्पक होने पर भी प्रमाणकोटि में तभी आती है-जब वह निश्चयात्मक हो। इसी के लिये वहाँ दर्शन से लेकर धारणा तक विविध अवस्थाएँ बताई गई हैं। इसी बात को प्रकट करने के लिए प्रमाण की परिभाषा में 'व्यवसायी' शब्द रखा जाता है।

आगमिक-युग में सम्यग्ज्ञान का विभाजन ज्ञाता को लेकर किया जाता था। यदि ज्ञाता सम्यग्दृष्टि है तो उसका प्रत्येक ज्ञान सम्यक् माना जाता था और मिथ्यादृष्टि है तो मिथ्या। तर्क के युग में यह विभाजन ज्ञेय वस्तु के आधार पर होने लगा। दर्शन निराकार होने से उसे सम्यक् या मिथ्या दोनों कोटियों से बाहर रखा गया। किंतु निश्चयात्मक न होने के कारण उसे प्रमाण नहीं माना गया। इसी के लिए परिभाषा में 'ज्ञान' शब्द का संनिवेश किया जाता है।

मीमांसादर्शन 'गृहीत-ग्राह्य-ज्ञान' को प्रमाण नहीं मानता। उसका कथन है कि प्रत्येक ज्ञान में नई अनुभूति होनी चाहिए। इसी आधार पर दिगंबर आचार्यों ने प्रमाण की परिभाषा में 'अपूर्वार्थ' का संनिवेश किया है किंतु श्वेतांबर आचार्यों का कथन है कि हमारे ज्ञान में प्रस्फुरित बात नई हो अथवा ज्ञातपूर्व, इससे उसके प्रामाण्य में अंतर नहीं पडता।

पृष्ठ १, पं. ६ दर्शनेऽतिव्याप्तिवारणाय–अभयदेवसूरि ने सन्मतितर्क (कांड, २ गाथा १) की व्याख्या करते हुए दर्शन को भी प्रमाण माना है। यशोविजय ने भी अवग्रह को सामान्यग्राही बताकर उसे दर्शन से अभिन्न माना है। अवग्रह मतिज्ञान का भेद होने के कारण प्रमाण के अंतर्गत है। इस प्रकार दर्शन भी प्रमाण के अंतर्गत हो जाता है, किंतु माणिक्यनंदि, वादिदेवसूरि आदि उत्तरवर्ती आचार्यों ने दर्शन को प्रमाण नहीं माना। यशोविजय ने भी उनका अनुसरण करते हुए उसे प्रमाण कोटि में नहीं रखा। इसी लिए कहा है–'दर्शनेऽति व्याप्तिवारणाय'। वास्तव में देखा जाय तो दर्शन शब्द की व्याख्या को लेकर आचार्यों में पर्याप्त मतभेद है। कुछ का कथन है कि वस्तु को जानने के लिए आत्मा की जो प्रथम परिणति होती है, उसे दर्शन कहा जाता है। उस समय, उस आभास में विषय का प्रवेश नहीं होता। दर्शन की यह व्याख्या अधिक उपयुक्त जान पडती है, क्योंकि अनुभूति में अर्थ का प्रवेश होते ही अवग्रह प्रारंभ हो जाता है। किंतु स्थूल दृष्टि को लेकर कुछ आचार्यों ने अवग्रह को भी दर्शन कोटि में रखा है। कुछ ने अवग्रह और ईहा दोनों को।

पृ. १, पं. ७ परोक्षवृत्तिवादी–कुमारिलभट्टका कथन है कि ज्ञान अपने आपको नहीं जानता। जब विषय प्रकट हो जाता है, तो उसके द्वारा अनुमान किया जाता है कि हमें ज्ञान हुआ है। इस प्रकार अनुमान के द्वारा ज्ञान का प्रकाश मानने वाले परोक्षवृत्तिवादी कहे जाते हैं।

पृष्ठ २, पं. १ न्यायदर्शन–प्रमा अर्थात् ज्ञान के कारण संनिकर्ष को प्रमाण मानता है और प्रमा को फल। जैनदर्शन प्रमा या ज्ञान को ही प्रमाण कहता है। ऐसी स्थिति में यह प्रश्न होता है कि प्रमाण का फल किसे कहा जायगा। उत्तर में जैन दर्शन का कथन है कि स्वार्थसंवित्ति ही फल है। उसका कथन है कि करण और फल में आपेक्षिक भेद है, आत्यंतिक नहीं। एक ही तथ्य को अर्थप्रकाशन की दृष्टि से प्रमाण कहा जाता है और अनुभूति की दृष्टि से फल।

पृष्ठ २ पं. ४ स्वव्यवसायित्वात्–जैन तार्किकों ने प्रमाण का फल स्व और पर दोनों का ज्ञान माना है। किंतु यशोविजय ने केवल स्व का उल्लेख किया है। उनका यह अभिप्राय जान पडता है कि ज्ञान का अर्थ के प्रतिभास को लेकर प्रकाशित होना ही फल है। इस में अर्थ और ज्ञान के प्रतिभास भिन्न-भिन्न नहीं रहते। ज्ञान ही साकार बनकर प्रतिभासित होता है। उदाहरण के रूप में हम दर्पण में अपने प्रतिबिंब को देखते हैं। दर्पण में प्रतिबिंब का पडना कारण है और प्रतिबिंबयुक्त दर्पण का प्रतिभास फल। इस प्रतिभास में प्रतिबिंब की स्वतंत्रता नहीं रहती।

पृष्ठ. २, पं. ६ उपयोगेन्द्रिय–न्यायदर्शन में बुद्धि अर्थात ज्ञान को आत्मा का गुण माना गया है। किंतु वह स्थायी नहीं है। मन का संयोग होने पर उत्पन्न होता है और एक क्षण रहकर अपने आप नष्ट हो जाता है। मुक्त अवस्था में आत्मा के साथ मन का संबंध सदा के लिए टूट जाता है। उस समय ज्ञान नहीं होता। सांख्य और वेदांत आत्मा को चित्स्वरूप मानते हैं। वहाँ भी वह बाह्य वस्तुओं के ज्ञान के लिए प्रकृति या अविद्या पर निर्भर है। इसके विपरीत जैनदर्शन निराकार एवं साकार, बाह्य एवं आभ्यंतर प्रत्येक ज्ञान को आत्मा का गुण मानता है। चेतना उसका स्वरूप है। वही जब निराकार होती है, तो उसे दर्शन कहा जाता है और जब साकार तो ज्ञान। दैनंदिन अनुभूति की व्याख्या के लिए आत्मा के इस गुण को दो अवस्थाओं में विभक्त किया जाता है। प्रथम अवस्था को लब्धि कहा जाता है और द्वितीय को उपयोग। लब्धि का अर्थ है–शक्ति जो समय-समय पर उपयोग अर्थात् ज्ञान के रूप में प्रकट होती है। यशोविजय के मतानुसार उपयोग ही प्रमाण है। तर्कयुग के प्रमाणशब्द की यह आगमिक व्याख्या यशोविजय की मौलिक देन है।

पृष्ठ ४, पं, १ सांव्यहारिक–और पारमार्थिक प्रत्यक्ष ज्ञान के विभाजन की दृष्टि से जैनपरंपरा तीन युगों में विभक्त है जो क्रमशः बाह्य प्रभाव को प्रकट करते हैं। प्राचीन आगमों में यह विभाजन पांच ज्ञानों के रूप में मिलता है। उनमें से प्रथम दो अर्थात् मति और श्रुत, इंद्रिय अथवा मन के रूप में बाह्य कारणों की अपेक्षा रखते हैं। शेष तीन अर्थात् अवधि, मनःपर्यय और केवल बाह्य कारणों की अपेक्षा नहीं रखते। प्रथम युग में प्रत्यक्ष और परोक्ष के रूप में विभाजन नहीं मिलता। द्वितीय युग में प्रथम दो ज्ञानों को बाह्य सापेक्ष होने के कारण परोक्ष मान लिया गया और शेष तीन को प्रत्यक्ष। किंतु वैदिक दर्शन इंद्रियजन्य ज्ञान को भी प्रत्यक्ष मानते थे। तृतीय युग में उनका समन्वय है और इंद्रिय ज्ञान को सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष के रूप में स्वीकार कर लिया गया। उसकी तुलना में आत्ममात्र की अपेक्षा रखने वाले अंतीम तीन ज्ञानों को पारमार्थिक प्रत्यक्ष कहा गया। नंदीसूत्र में तीनों प्रकार का विभाजन मिलता है। प्रथम दो ज्ञानों में श्रुत-ज्ञान परोक्ष के अंतर्गत है, इसे अन्य दर्शनों ने शब्द अथवा आगम प्रमाण के रूप में स्वीकार किया है। प्रथम मतिज्ञान के दो भेद हो गये। इंद्रियजन्य साक्षात् अनुभूति को प्रत्यक्ष मान लिया गया और अन्य अनुभूतियों को परोक्ष। तर्कयुग में पाँच ज्ञानों के रूप में विभाजन की परंपरा समाप्त हो गई और उसका स्थान प्रत्यक्ष और परोक्ष ने ले लिया था। प्रत्यक्ष के दो भेद कर दिए गए–सांव्यवहारिक और पारमार्थिक। पारमार्थिक के पुनः दो भेद हो गए–अवधि और मनः पर्यय को विकल तथा केवल को सकल प्रत्यक्ष कहा गया। परोक्ष के पाँच भेद किए गए—१) स्मरण २) प्रत्यभिज्ञान ३) तर्क ४) अनुमान और ५) आगम। इस प्रकार ज्ञानमीमांसा ने प्रमाणमीमांसा का रूप ले लिया और उसमें अन्य दर्शनों द्वारा प्रस्तुत प्रमाणव्यवस्था का समन्वय कर लिया गया।

पृष्ठ ४, पं. २ प्रत्यक्ष–प्रत्यक्षशब्द की व्युत्पत्ति करते हुए यशोविजय ने अक्ष शब्द के दो अर्थ किए हैं–इंद्रियाँ और जीव। और इसी आधार पर सांव्यवहारिक और पारमार्थिक दोनों प्रत्यक्षों को सम्मिलित कर लिया। किंतु यहाँ प्रश्न होता है कि व्युत्पत्ति द्वारा दो अर्थ निकलने पर भी उन्हें लक्षण में सम्मिलित नहीं किया जा सकता। उसका आधार किसी एक ही बात को रखना होगा। इसी तथ्य को लक्ष्य में रखकर वादिदेवसूरि आदि आचार्यों ने प्रत्यक्ष और परोक्ष में भेद का मुख्य आधार विशदता को माना। प्रत्यक्ष से होने वाला ज्ञान परोक्ष की तुलना में अधिक विशद होता है। अनुमान से केवल अग्नि के अस्तित्व का भान होता है, किंतु प्रत्यक्ष होने पर रूप, आकार आदि अनेक तथ्य सामने आ जाते हैं। अतः यह मानना होगा कि परोक्ष की तुलना में प्रत्यक्ष अधिक स्पष्ट या विशद होता है। यशोविजय ने भी इस तथ्य का उल्लेख किया है।

पृष्ठ ४, पं. ५ यतो व्युत्पत्ति–शब्दों की व्युत्पत्ति दो प्रकार की होती है। कुछ व्युत्पत्तियाँ सार्थक हैं। जैसे पाठक, अध्यापक, शासक, नेता आदि शब्दों की व्युत्पत्तियाँ। जो पढ़ाता या पाठ करता है उसे पाठक कहा जाता है। इस व्युत्पत्ति के आधार पर हम व्यक्तिविशेष को पाठक कह सकते हैं। ऐसी व्युत्पत्तियों को 'प्रवृत्तिनिमित्त' कहा जाता है। इसके विपरीत कुछ व्युत्पत्तियाँ केवल शब्द के निर्माण के लिए होती हैं। उनके आधार पर प्रत्येक वस्तु को उस नाम से नहीं पुकारा जा सकता। उदाहरण के रूप में गो शब्द है। इसकी व्युत्पत्ति है–'गच्छतीति गौः', किंतु चलनेवाली प्रत्येक वस्तु को गौ नहीं कहा जा सकता। ऐसे शब्दों की व्याख्या को 'व्युत्पत्तिनिमित्त' कहा जाता है। यहाँ प्रत्यक्ष शब्द की व्याख्या 'अक्ष' शब्द को लेकर की गई है। इसका अर्थ है–इंद्रियाँ। किंतु प्रत्यक्ष में इंद्रियातीत ज्ञान भी सम्मिलित है, अतः अक्ष शब्द केवल व्युत्पत्तिनिमित्त है। वास्तव में देखा जाय तो प्राचीन आगम-साहित्य में प्रत्यक्ष शब्द का प्रयोग नहीं मिलता। उस समय साधारण व्यवहार में आँखों देखी बात के लिए प्रत्यक्ष शब्द का प्रयोग किया जाता था। दार्शनिक क्षेत्र में इसका प्रयोग सर्वप्रथम न्यायदर्शन में हुआ। वहाँ इसकी व्याख्या इंद्रियजन्य ज्ञान के रूप में की जाती है। इस व्याख्या में अक्ष शब्द से सभी इंद्रियाँ ग्रहण करली गई। उत्तरवर्ती काल में आत्मा को भी अक्ष शब्द का अर्थ मान लिया गया और इंद्रियातीत ज्ञान को प्रत्यक्ष में सम्मिलित कर लिया गया।

पृष्ठ ४, पं. ८ सांव्यवहारिक–बौद्धों की योगाचार परंपरा ज्ञानाद्वैत को मानती है। उसने ज्ञान की दो भूमिकाएँ स्वीकार की हैं–आलय-विज्ञान और प्रवृत्ति-विज्ञान। आलयविज्ञान समुद्र के समान है और प्रवृत्तिविज्ञान उसमें उठने वाली तरंगों के समान। तरंगों का अस्तित्व समुद्र के अस्तित्व से पृथक् नहीं होता। दूसरे शब्दों में यों कहा जायगा कि वह समुद्र की ही क्षणिक-प्रतीति है। इसी आधार पर वहाँ सत्य के दो स्तर बताए गए हैं। संवृति सत्य और परमार्थसत्य। घट-पट आदि बाह्य वस्तुओं में प्रतीत होने वाला सत्य संवृति सत्य है। और आलयविज्ञान परमार्थसत्य। संवृति का अर्थ है संवरण या स्वीकृति। घट-पट आदि वस्तुओं का ज्ञान वास्तव में सत्य न होने पर भी काम चलाने के लिए सत्य मान लिया जाता है। संवृति के दो भेद हैं–मिथ्या-संवृति और सत्यसंवृति। शुक्ति में रजत, रज्जु में सर्प आदि जो प्रतीतियाँ साधारण व्यवहार में भी मिथ्या समझी जाती हैं उन्हें मिथ्या संवृति कहा जाता है। स्वप्न भी इसी के अंतर्गत हैं। घट-पट आदि बाह्य वस्तुओं का जो ज्ञान साधारण व्यवहार में मिथ्या नहीं समझा जाती उसे सत्यसंवृति कहा गया है। योगाचार केवल 'ज्ञान' का अस्तित्व मानता है, ज्ञेय का नहीं। अतः वहाँ यह विभाजन ज्ञान या प्रतीति को लेकर किया गया। शंकराचार्य ने यह विभाजन त्रिविध सत्ता के रूप में किया है। रज्जु-सर्प आदि मिथ्या ज्ञानों में प्रतीत होने वाले पदार्थ प्रातिभासिक सत्य हैं। घट-पट आदि साधारण व्यवहार में प्रतीत होने वाले व्यावहारिक सत्य, और ब्रह्म पारमार्थिक सत्य है।

जैनदर्शन बाह्यजगत् को मिथ्या नहीं मानता, फिर भी उसने इंद्रिय तथा मन के द्वारा होने वाले ज्ञान को सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहा है और केवल आत्मा से होने वाले ज्ञान को पारमार्थिक प्रत्यक्ष। यशोविजय ने इस वर्गीकरण के कारण इस प्रकार प्रस्तुत किए हैं–सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष के द्वारा पारमार्थिक न होने पर लौकिक-व्यवहार का संचालन होता है। हम इंद्रिय तथा मन के द्वारा जानकर कहीं प्रवृत्त होते हैं और कहीं निवृत्त। इस व्यवहार में कहीं बाधा नहीं पड़ती। इस प्रकार समीचन व्यवहार का कारण होने से इसे सांव्यवहारिक कहा जाता है। अनुमान को इसीलिए परोक्ष कहा जाता है, क्योंकि वहाँ वस्तु की साक्षात् प्रतीति नहीं होती। हम धूएँ के द्वारा अग्नि का अनुमान करते हैं। इसी प्रकार सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष में आत्मा वस्तु को मन और इंद्रियों के द्वारा जानता है, साक्षात् नहीं। अतः वास्तव में वह परोक्ष ही है, केवल व्यवहार में प्रत्यक्ष कहा जाता है।

प्रत्यक्ष आत्मा की अनुभूति होने के कारण भ्रांत नहीं होता। इसके विपरीत अनुमान आदि परोक्ष ज्ञान मध्यवर्ती हेतु आदि के मिथ्या होने पर मिथ्या भी हो सकते हैं। प्रस्तुत ज्ञान भी इंद्रिय और मन का व्यवधान आ जाने के कारण मिथ्या हो सकता है। पीलिया रोग वाले को सफेद वस्तु भी पीली दिखाई देती है। इसी प्रकार मन में राग, द्वेष आदि के कारण बाह्य वस्तुएँ विपरीत दिखाई देने लगती हैं। मिथ्यात्व की संभावना होने के कारण यह ज्ञान वास्तव में परोक्ष ही है।

यहाँ एक बात विचारणीय है। धर्मकीर्ति ने प्रत्यक्ष की परिभाषा में अभ्रांत शब्द लगाया है। उसकी मान्यता है कि प्रत्यक्ष निर्विकल्पक या कल्पनारहित होता है। भ्रांति की संभावना केवल कल्पना में होती है, निर्विकल्पक प्रतीति में नहीं होती। अतः प्रत्यक्ष सदा अभ्रांत होता है। गौतम ने भी अपनी प्रत्यक्ष की व्याख्या में इसी का अनुसरण किया है। उसने प्रत्यक्ष को अव्यपदेश्य, अव्यभिचारी और व्यवसायात्मक कहा है। प्रत्यक्ष मे जो ज्ञान होता है उसे शब्दों द्वारा प्रकट नहीं किया जा सकता। साथ ही वह निर्दोष होता है। यशोविजय ने सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष में दोष की संभावना बताकर इसी तथ्य का समर्थन किया है।

पृष्ठ ४, पं. १० तद्धीन्द्रिया–जैन दर्शन में आत्मा चेतन और अपौद्गलिक है। इसके विपरीत मन और इंद्रियाँ जड तथा पौद्गलिक हैं। जो ज्ञान आत्मा से होता है वह 'प्रत्यक्ष' है और जो अन्य कारणों की अपेक्षा रखता है वह परोक्ष। इसी आधार पर मति और श्रुत को 'परोक्ष' कहा गया है।

मीमांसादर्शन में इन दोनों की व्याख्या दूसरे प्रकार से की गई है। वहाँ प्रत्यक्ष का अर्थ है–वह ज्ञान जो स्वतः प्रमाण है। जिसे प्रामाण्य के लिए किसी अन्य आधार की आवश्यकता नहीं है, जैसे वेद। इसके विपरीत जिस ज्ञान का प्रामाण्य किसी अन्य आधार पर अवलंबित है, उसे परोक्ष कहा जायगा, जैसे स्मृतियाँ तथा उत्तरवर्ती साहित्य। उनका प्रामाण्य वेद के प्रामाण्य पर निर्भर है। मीमांसादर्शन में स्मृतियों के लिए अनुमान शब्द का प्रयोग भी किया गया है। यशोविजय ने भी प्रत्यक्ष और परोक्ष की व्याख्या में उपर्युक्त दृष्टि को सामने रखा है। उनका कथन है कि जिस ज्ञान में संशय, विपर्यय तथा अनध्यवसाय की संभावना है, वह स्वतः प्रमाण नहीं होता, उसे परोक्ष कहा जायगा। मति और श्रुत इसी प्रकार के ज्ञान हैं। इसके विपरीत जो ज्ञान केवल आत्मजन्य होते हैं, उनमें संशय आदि की संभावना नहीं है। वे स्वतः प्रमाण हैं। उन्हें प्रत्यक्ष कहा जायगा।

इस प्रकार प्रत्यक्ष और परोक्ष में परस्पर भेद का निरूपण दो आधारों पर किया गया। प्रथम आधार ज्ञप्ति अर्थात् ज्ञान की उत्पत्ति से संबंध रखता है। प्रत्यक्ष केवल आत्मा से उत्पन्न होता है और परोक्ष इंद्रिय एवं मन की सहायता से। द्वितीय आधार प्रमिति अर्थात् प्रामाण्य है। आत्मा से होने वाला ज्ञान स्वतः प्रमाण होता है। उसमें अप्रामाण्य की संभावना नहीं रहती। इसके विपरीत इंद्रिय एवं मन से होने वाला ज्ञान इस संभावना से मुक्त नहीं होता। उसका प्रामाण्य अन्य तथ्यों पर निर्भर है।

पृष्ठ ५, पं. ७ नन्वेवमवग्रह–मति और श्रुत के परस्पर भेद को लेकर 'विशेषावश्यक-भाष्य' में विस्तृत चर्चा है। वहाँ यह मत भी आया है कि प्रत्येक ज्ञान शब्द का संपर्क होने पर 'श्रुत-ज्ञान' हो जाता है। सर्व-प्रथम इंद्रियाँ वस्तु को ग्रहण करती हैं जिसे 'अवग्रह' कहा जाता है। उसके पश्चात् मन अपने प्राचीन संस्कारों के अनुसार उनका वर्गीकरण करना चाहता है, जिसे 'ईहा' कहा जाता है। वर्गीकरण की इच्छा होते ही ज्ञान के साथ शब्द जुड जाता है। उसके बिना वर्गीकरण नहीं हो सकता। इसी तथ्य को लक्ष्य में रखकर यह शंका उठाई गई कि ईहा आदि को श्रुत कहा जाय या मति? यशोविजय का कथन है कि उत्तर अवस्था में शब्द का सम्मिश्रण होने पर भी उस ज्ञान का प्रारंभ शब्द से नहीं होता। अतः उसे मति ही कहा जायगा। इसके विपरीत जिस ज्ञान का प्रारंभ ही शास्त्र या दूसरे के कथन से हो उसे श्रुत कहा जायगा।

वास्तव में देखा जाय तो श्रुत ज्ञान का लक्ष्य महापुरुषों के अनुभवों को प्रश्रय देना है। वैदिक परंपरा में जो स्थान श्रुति का है वही यहाँ श्रुत का है। वहाँ श्रुति को चार वेदों में विभक्त किया जाता है और यहाँ श्रुत को अंगप्रविष्ट, अंगबाह्य आदि के रूप में। बहुत सी परंपराएँ श्रुत अर्थात् आगम को प्रमाण नहीं मानतीं। उनका कथन है कि हमें अपनी ही अनुभूति पर निर्भर रहना चाहिए किंतु वास्तव में देखा जाय तो हमारे ज्ञान का अधिकांश दूसरों की अनुभूति पर निर्भर होता है। हम रेल्वे की समयसारिणी देख कर स्टेशन पर चले जाते हैं और गाडी पकड लेते हैं। बहुत-सी बातें समाचार-पत्र एवं आकाशवाणी से जानते हैं। यदि उन सब पर विश्वास छोड दिया जाय तो जीना कठिन हो जायगा। अतः आगम या श्रुत का जीवन में महत्त्वपूर्ण स्थान है, किंतु उसके प्रामाण्य का निश्चय कर लेना चाहिए। शास्त्र के प्रामाण्य को लेकर तीन मान्यताएँ हैं। प्रथम मान्यता मीमांसा-दर्शन की है। उसका कथन है कि वाणी में दोष वक्ता के कारण आता है। जिस वाणी का कोई वक्ता ही नहीं है उसमें दोष नहीं हो सकता। वेद अनादि हैं। उनका कोई वक्ता नहीं है, अतः वे निर्दोष और अंतिम प्रमाण हैं। दूसरी मान्यता वेदांत एवं अन्य वैदिक-दर्शनों की है। वे वेद को ईश्वर की रचना मानते हैं। उनका कथन है कि वाणी में तभी दोष आता है, जब वक्ता अल्पज्ञ या रागद्वेष से अभिभूत हो, ईश्वर सर्वज्ञ और रागद्वेष से परे है। अतः उसकी वाणी में दोष नहीं उठ सकता। तीसरी मान्यता जैनदर्शन की है। वह भी उपर्युक्त दोनों गुणों को आवश्यक मानता है, किंतु ईश्वर के स्थान पर उन महापुरुषों को रखता है जो साधना द्वारा समस्त दोषों से मुक्त हो चुके हैं और सर्वज्ञत्व प्राप्त कर चुके हैं। शास्त्र उन्हीं की वाणी हैं। जो आगम सर्वज्ञ की वाणी नहीं हैं, उन्हें भी इसी आधार पर प्रमाण माना जाता है कि वे सर्वज्ञ की वाणी का अनुसरण करते हैं। साथ ही उनके रचयिता महाज्ञानी तथा चरित्र-संपन्न हैं। इन्हीं दो तथ्यों के आधार पर प्रत्येक रचना में प्रामाण्य का तारतम्य आ जाता है।

पृष्ठ ६, पं. २-५ अंगोपांगादौ—जब हम किसी पुस्तक को पढते हैं तो दो प्रकार की अनुभूतियाँ एक साथ चलती हैं। प्रथम अनुभूति अक्षरों के प्रत्यक्ष तथा शब्दरचना की होती है। इस में अर्थ का अनुसंधान नहीं होता। द्वितीय अनुभूति अर्थानुसंधान के पश्चात् शब्दों द्वारा प्रतिपादित विषय की होती है। प्रथम अनुभूति मतिज्ञान के अंतर्गत है और द्वितीय श्रुतज्ञान में। प्रथम का आधार चाक्षुष प्रत्यक्ष होता है और द्वितीय का अर्थानुसंधान या मनन।

पृष्ठ ६ पं. ११ अथ अज्ञानम्—यहाँ यह प्रश्न उठाया गया है कि व्यंजनावग्रह को ज्ञान की कोटि में नहीं रखा जा सकता। बहरे के कान में शब्द का प्रवेश होता है, किंतु वह उसे नहीं पकड पाता। फलस्वरूप इस संपर्क को ज्ञान नहीं कहा जाता। इसी प्रकार व्यंजनावग्रह को अर्थशून्य होने के कारण ज्ञान नहीं कहना चाहिए। उत्तर के रूप में ग्रंथकार का कथन है कि वास्तव में वह ज्ञानस्वरूप न होने पर भी ज्ञान कारण होने से उसे ज्ञान कहा जा सकता है।

पृष्ठ ७, पं. ४ व्यंजनावग्रह—व्यंजनशब्द की व्युत्पत्ति है—'व्यज्यते अनेनेति व्यञ्जनम्' अर्थात् अभिव्यक्ति का साधन। यहाँ इसके दो अर्थ किए जाते हैं। प्रथम अर्थ है—इंद्रियाँ, जो पदार्थ को प्रकट करती हैं। द्वितीय अर्थ है—रूप, रस आदि गुण, जिनके द्वारा वस्तु पहिचानी जाती है। व्यंजनावग्रह की व्युत्पत्ति है—'व्यंजनेन व्यंजनस्यावग्रह' सर्वप्रथम इंद्रियों में रूप, रस, गंध, स्पर्श आदि की अनुभूति होती है। उसके पश्चात् उस अनुभूति के आधार पर अर्थ का संनिवेश किया जाता है। इसी प्रथम अनुभूति को 'व्यंजनावग्रह' कहा जाता है।

तुलनात्मक ज्ञान के लिए व्यंजन शब्द के अर्थ को समझना आवश्यक है। व्याकरणशास्त्र में अक्षरों का विभाजन स्वर और व्यंजनों के रूप में किया जाता है। स्वर का अर्थ है केवल ध्वनि, जो बिना आघात के बाहर निकलती है। वही स्थानविशेष से टकराकर व्यंजनों का रूप ले लेती है। दूसरे शब्दों में यों कहा

आयगा की ध्वनि व्यंजन के रूप में आकार ग्रहण करती है। इसी प्रकार जब निराकार प्रतीति आकार लेने लगती है तो उसे व्यंजनावग्रह कहा जाता है।

भोजन में रोटी, चावल आदि वस्तुएँ क्षुधा-निवृत्ति का मुख्य तत्त्व होती हैं। शाक, दही आदि पदार्थ उन्हें स्वादिष्ट बनाते हैं। इन्हीं को व्यंजन कहा जाता है। एक ही खाद्य वस्तु विभिन्न व्यंजनों का संपर्क प्राप्त करके भिन्न-भिन्न स्वाद देने लगती है। इस प्रकार भोजन का सामान्य तत्त्व विशेष रूप ले लेता है। व्यंजनावग्रह में भी सामान्य या निराकार प्रतीति साकार बनने लगती है।

पृष्ठ ७, पं. ५ स च········चतुर्धा–यहाँ इंद्रिय-प्राप्यकारित्व के संबध में कुछ जान लेना आवश्यक है। वैदिक दर्शनों की मान्यता है कि प्रत्येक इंद्रिय विषय के साथ संबद्ध होकर उसे ग्रहण करती है। श्रोत्रेंद्रिय में शब्द की तरंगें प्रविष्ट होती हैं, चक्षुरिन्द्रिय रश्मियों के द्वारा विषय के साथ संपर्क स्थापित करती है और घ्राणेंद्रिय में सुगंधित परमाणु प्रविष्ट होते हैं। रसना और स्पर्शनेंद्रिय में यह संपर्क निर्विवाद है। जैनदर्शन का कथन है कि चक्षु को इस संपर्क की आवश्यकता नहीं होती। इसी प्रकार मन भी संपर्क स्थापित नहीं करता। फलस्वरूप इन दोनों में 'व्यंजनावग्रह नहीं होता। वहाँ प्रतीति का प्रारंभ अर्थ की अनुभूति से होता है। न्यायदर्शन का कथन है कि द्रव्य का प्रत्यक्ष केवल मन या चक्षु के द्वारा होता है। शेष इंद्रियाँ केवल गुणों को ग्रहण करती हैं, द्रव्य को नहीं। जैनदर्शन का भी कथन है कि चक्षु और मन के द्वारा सर्वप्रथम 'अर्थावग्रह' होता है। उन्हें व्यंजनावग्रह से अर्थावग्रह पर जाने की आवश्यकता नहीं होती। इसके विपरीत अन्य इंद्रियाँ पहले व्यंजनावग्रह के रूप में गुणविशेष को ग्रहण करती हैं और उसके पश्चात् अर्थ पर पहुँचती हैं।

पृष्ठ ७, पं. ५ स च नयन–मन और चक्षु को अप्राप्यकारी सिद्ध करने के लिए जैनदर्शन नीचे लिखी युक्ति प्रस्तुत करता है–

अन्य इंद्रियाँ जब वस्तु का ग्रहण करती हैं तो उन पर वस्तु के गुणों का अनुकूल या प्रतिकूल प्रभाव पडता है। अग्नि या तपी वस्तु का स्पर्श उष्णता के साथ शरीर पर छाले उत्पन्न कर देता है। इसी प्रकार जिह्वा और घ्राणेंद्रिय में रस एवं गंध के अतिरिक्त अन्य प्रभाव भी होते हैं, कठोर शब्द कान के पर्दों पर आघात करता है। चक्षु तथा मन पर इस प्रकार के प्रभाव नहीं होते। आग को देखने पर भी आँखों में जलन नहीं होती। इसी प्रकार मन पर भी उसका प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ता। अतः ये दोनों अप्राप्यकारी हैं। न्यायदर्शन का कथन है कि मन का वस्तु के साथ संपर्क नहीं होता। वह इंद्रिय और आत्मा के बीच की कडी है। किंतु चक्षु-इंद्रिय अप्राप्यकारी नहीं है। आँखों की रश्मियाँ बाहर निकलकर वस्तु को ग्रहण करती हैं। वेदांत रश्मियों के साथ अंतःकरण का भी बाहर निकलना स्वीकार करता है। वर्तमान विज्ञान का कथन है कि रश्मियाँ बाहर नहीं निकलतीं, किंतु वस्तु का आँख की पुतली में प्रतिबिंब पडता है। दृष्टिनाडी उस प्रतिबिंब को मस्तिष्क तक ले जाती है और ज्ञान या अनुभूति का विषय बना देती है। यह मान्यता भी चक्षु के अप्राप्यकारी होने का समर्थन करती है। जहाँ तक मन का प्रश्न है इसके द्वारा तीन प्रकार की अनुभूतियाँ होती हैं। प्रथम प्रकार उन अनुभूतियों का है जिनका प्रारंभ इंद्रिय-ज्ञान से होता है किंतु मन अपनी ओर से उस ज्ञान में किसी नए तत्त्व का संनिवेश करता है जैसे–अनुमान। वहाँ धूम का इंद्रियप्रत्यक्ष होता है और उस आधार पर मन अग्नि की प्रतीति को जोड देता है। इसी प्रकार श्रुतज्ञान में अक्षरों का प्रत्यक्ष होता है और मन अर्थों को जोड देता है। ऐसे स्थलों में मानसिक ज्ञान को सभी ने परोक्ष माना है। द्वितीय प्रकार उन अनुभूतियों का है जहाँ मन इंद्रिय द्वारा अनुभूत पदार्थ में उत्तरोत्तर सूक्ष्मता एवं व्यवसायात्मकता लाने का प्रयत्न करता है। जैनदर्शन में इसी क्रम का विभाजन अवग्रह, ईहा आदि के रूप में किया गया है। न्यायदर्शन इसे निर्विकल्पक एवं सविकल्पक प्रत्यक्ष के रूप में उपस्थित करता है। बौद्ध-दर्शन प्रथम निर्विक-

पश्चात् निर्विकल्पक ज्ञान को मानता है, किंतु उसकी व्याख्या भिन्न प्रकार से करता है। वहाँ वस्तु और उसका विशेष धर्म, घट और घटत्व दोनों प्रतीत तो होते हैं, किंतु उनमें परस्पर संबंध का भान नहीं होता। यह भान तृतीयक्षण में होता है इसके विपरीत जैनदर्शन का कथन है कि प्रथम क्षण में केवल वस्तु का भान होता है और वैशिष्टय का उत्तरवर्ती क्षणों में।

पृष्ठ १०, पं. ६ कथं तर्हि–नंदिसूत्र में अवग्रह की व्याख्या में आया है–'से जहा नामए केइ पुरिसे अव्वत्तं सद्दं सुणेज्जा तेणं सद्देत्ति उग्गहिए, न उण जाणइ के वेस सद्दाइ त्ति' अर्थात् जैसे किसी पुरुष ने अव्यक्त शब्द सुना। उसे यह भान नहीं होता कि वह किसका शब्द है ? यही अवग्रह है। यहाँ प्रश्न होता है कि शब्द का भान होने पर उसे अवग्रह कैसे कहा जायगा ? क्योंकि अवग्रह में नाम, जाति आदि का वर्गीकरण नहीं होता। उत्तर में आचार्य का कथन है कि जिस प्रकार चक्षु से होने वाले अवग्रह में आकार का भान होने पर भी यह पता नहीं चलता कि वह किसका है। इसी प्रकार श्रोत्र से होने वाले अवग्रह में केवल शब्द का भान होता है। वह किसका है या क्या कह रहा है, इत्यादि का भान नहीं होता।

पृष्ठ १३, पं.६ नन्ववग्रहेऽपि क्षिप्रेतरादि······ भेद-प्रभेद द्वारा वस्तु को समझना भारत की प्राचीन परिपाटी है। प्रत्येक परंपरा ने इस शैली को अपनाया है। बहुत बार ऐसा भी हुआ है कि भेद-प्रभेदों को लेकर परस्पर प्रतिस्पर्द्धा चल पड़ी और जिसने जितने अधिक भेद किए वह उतना ही सूक्ष्म विवेचक समझा गया। इसी प्रतिस्पर्द्धा के कारण जैनशास्त्रों में मतिज्ञान के भेदों की संख्या ३३६ तक पहुँच गई। सर्वप्रथम चार भेद किए गए–अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा। अवग्रह के पुनः दो भेद हो गए–अर्थावग्रह और व्यंजनावग्रह। व्यंजनावग्रह मन और चक्षु के द्वारा नहीं होता। शेष चार इंद्रियों के द्वारा होने के कारण उसके चार और अर्थावग्रह आदि चारों के छः छः भेद हो गए। इन अट्ठाईस में प्रत्येक के पुनः १२-१२ भेद कर दिए गए यहाँ यह प्रश्न होता है कि अवग्रह केवल एक क्षण रहता है। उसमें बारह अवस्थाएँ संभव नहीं हैं। व्यंजनावग्रह में तो अर्थ का भान ही नहीं होता, ऐसी स्थिति में यह भेद कैसे किए जा सकते हैं। यशोविजय की सूक्ष्मदृष्टि इस असामंजस्य पर पहुँची ओर उन्होंने भी इसका अनुभव किया। दूसरी ओर परंपरा के प्रति श्रद्धा बनी हुई थी। अतः उन्होंने उत्तरकालीन विकास के आधार पर अवग्रह में भी इन भेदों का समर्थन किया। उन्होंने स्पष्ट कहा है कि वास्तव में वे अपाय के भेद हैं, किंतु कारण में कार्य का उपचार करके उन्हें अवग्रह के भेद भी मान लिया गया।

पृष्ठ १३, पं. ९ (अवग्रहो द्विविधः)–उपर्युक्त समस्या का एक और समाधान प्रस्तुत किया गया। उन्होंने अवग्रह के दो भेद कर दिए नैश्चयिक और व्यावहारिक। नैश्चयिक अवग्रह ज्ञान की प्रथम अवस्था है। वहाँ अन्य भेदों का संभव नहीं है। किंतु व्यावहारिक अवग्रह सापेक्ष है। प्रत्येक ज्ञान में हम उत्तरोत्तर सूक्ष्मता की ओर जाते हैं और प्रत्येक नवीन तत्त्व सर्वप्रथम अवग्रह के रूप में उपस्थित होता है। उदाहरण के रूप में हमने किसी दूरवर्ती वस्तु को देखा। द्वितीय क्षण में संदेह हुआ कि वह मनुष्य है या कोई अन्य वस्तु ? तृतीय क्षण में संभावना होने लगी कि मनुष्य होना चाहिए और चौथे क्षण में निश्चय हो गया कि वह मनुष्य ही है। संशय के पूर्ववर्ती क्षण को अवग्रह कहा जायगा। और उत्तरवर्ती दो क्षणों को क्रमशः ईहा और अवाय। मनुष्यत्व का निश्चय होने पर पुनः संदेह होता है कि वह राम है या कोई अन्य ? इस संदेह से पहले राम का अवग्रह होता है और उसके पश्चात् ईहा तथा अवाय। इसी प्रकार ज्यों-ज्यों जिज्ञासा बढती है और हम सामान्य से विशेष की ओर जाते हैं, अवग्रह ईहा आदि चारों अवस्थाएँ नया रूप लेती रहती हैं। इन उत्तरवर्ती अवस्थाओं को लेकर अवग्रह के भी १२ भेद किए जा सकते हैं।

पृष्ठ १५, पं. २ स एव दृढ–यशोविजय ने धारणा को तीन अवस्थाओं में विभक्त किया है–अविच्युति, वासना और स्मृति। अविच्युति का अर्थ है-अनुभूति का स्थायी होना। वासना का अर्थ है-उसका संस्कार के रूप में परिणत होना। जब वह संस्कार पुनः उद्बुद्ध हो जाता है तो उसे 'स्मृति' कहा जाता है। वर्तमान मनोविज्ञान का कथन है कि हमारे मन पर पडने वाला कोई प्रभाव समाप्त नहीं होता। जब तक वह चेतन मन में रहता है, उसका भान होता रहता है। अचेतन मन में जाकर वही संस्कार के रूप में पडा रहता है और अवसर आने पर पुनः उद्बुद्ध हो जाता है। इन्हीं अवस्थाओं को यहाँ क्रमशः 'वासना' तथा 'स्मृति' कहा गया है। यहां एक प्रश्न होता है कि जैन दृष्टि से वे संस्कार कहाँ रहते हैं? इसके उत्तर में जैनदर्शन मन तथा समस्त इंद्रियों को द्रव्य तथा भाव के रूप में विभक्त करता है। द्रव्येन्द्रिय तथा द्रव्यमन जड हैं। भावेंद्रिय तथा भावमन आत्मस्वरूप हैं। समस्त संस्कार आत्मा में रहते हैं। उन्हीं को कार्मण शरीर कहा जाता है। यह संस्कार, अपने आप में जड होने पर भी आत्मा को प्रभावित करते रहते हैं। वर्तमान मनोविज्ञान में जो स्थान अचेतन मन का है, वही जैनदर्शन में कर्मयुक्त आत्मा का।

पृष्ठ १५, पं. ६ केचित्तु अपनयन–किसी-किसी आचार्य ने अपाय और धारणा का स्वरूप बताते हुए कहा है कि अपाय निषेधात्मक होता है और धारणा विध्यात्मक। ईहा में विशेष रूप से जानने की इच्छा होती है। उसके पश्चात् ज्ञाता वस्तु का विवेचन करता है। सर्वप्रथम इतर वस्तु का अपलाप करता है। उदाहरण के रूप में जब सामने खडे व्यक्ति को हाथ-पैर आदि हिलाते देखता है तो इस निश्चय पर पहुँचता है कि वह 'स्थाणु' नहीं हो सकता। इसी अपनयन का नाम 'अपाय' है। उसके पश्चात् विध्यात्मक निश्चय करता है कि वह मनुष्य ही है यह 'धारणा' है। यह निश्चय पर पहुँचने की वैज्ञानिक प्रक्रिया है। सर्वप्रथम सामान्य ज्ञान होता है। उसके पश्चात् विशेष की जिज्ञासा होती है। तत्पश्चात् व्यावर्तक धर्मों के आधार पर पक्षांतर का अपलाप किया जाता है और उसके पश्चात् विध्यात्मक निर्णय पर पहुँचते हैं। इन्हीं को जैनदर्शन में क्रमशः अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा के रूप में प्रस्तुत किया गया है।

यशोविजय का कथन है कि अपाय सर्वत्र निषेधात्मक नहीं होता। वह कहीं विधिरूप होता है और कहीं निषेधरूप और कहीं उभयरूप। हाथ-पैर आदि अंगों का संचालन जिस प्रकार स्थाणुत्व का व्यावर्तक है उसी प्रकार मनुष्यत्व का प्रतिपादक भी हो सकता है। यह ज्ञाता पर निर्भर है। कि उसे किस प्रकार की प्रतीति होती है। ऐसी स्थिति में विधि अथवा निषेध दोनों को अपाय कहा जायगा। वास्तव में देखा जाय तो यहाँ दो शब्द मिलते हैं! अपाय और अवाय। अपाय का शाब्दिक-अर्थ निषेधात्मक है। जैसे अपनयन, अपसरण, अपगम इत्यादि। किंतु अव-उपसर्ग निषेधात्मक नहीं है। वह केवल निश्चय तथा मर्यादा को प्रकट करता है जैसे अवगम, अवस्थित इत्यादि। अवाय में ज्ञान निश्चयात्मक और मर्यादित हो जाता है। और उसमें विधि तथा निषेध दोनों तत्त्व रहते हैं।

पृष्ठ १६, पं १ अन्यथा स्मृतें–अवाय को निषेधात्मक तथा धारणा को विध्यात्मक मान लेने पर एक आपत्ति खडी होती है। ऐसी स्थिति में अविच्युति, वासना और स्मृति के रूप में धारणा की जो व्याख्या की गई है, उसे अतिरिक्त कोटि में रखना होगा। फलस्वरूप मतिज्ञान के पाँच भेद हो जाएँगे।

वास्तव में देखा जाय तो अविच्युति और वासना को ज्ञान के भेदों में नहीं रखा जा सकता। वे केवल स्मृति के सहायक हैं, उपयोग-रूप नहीं हैं। स्मृति अपने आप में एक नया ज्ञान है। पूर्वानुभव उसमें सहायक होता है, किंतु वह उसकी अवस्था-विशेष नहीं है। प्रत्येक ज्ञान अपना कार्य पूरा करके शांत हो जाता है। नये ज्ञान में, चाहे वह पूर्वानुभूत वस्तु का ही हो, पुनः नये अवग्रह आदि होते हैं। स्मृति मानस-ज्ञान है। उसमें भी चारों अवस्थाएँ स्वतंत्र रूप से होती हैं। ऐसी स्थिति में यदि निषेध और विधि दोनों को अवाय मान

लिया गया, तो मतिज्ञान के तीन ही भेद रह जाएँगे। अतः अवाय और धारणा को क्रमशः निषेध और विधिरूप मानना अधिक उपयुक्त है। इसके उत्तर में यशोविजय का कथन है कि यदि ज्ञान अवाय तक ही सीमित रहे और वासना या संस्कार के रूप में परिणत न हो तो वह स्मृति का उत्पादक नहीं हो सकता। अतः स्मृति को उत्पन्न करने के लिए ज्ञान की एक ऐसी अवस्था माननी होगी जो दृढीभूत होकर संस्कार छोड जाती है। यही धारणा है। जहाँ तक ज्ञेय का प्रश्न है, अवाय उसे पूरी तरह जान लेता है। धारणा में वही दृढ होकर संस्कार का रूप ले लेता है।

पृष्ठ २०, पं. ५ सम्यक्–सम्यक्-श्रुत और मिथ्या-श्रुत का विभाजन दो आधारों पर किया जाता है। प्रथम आधार व्यक्तिनिष्ठ है और द्वितीय वस्तुनिष्ठ। आगमिक परंपरा व्यक्तिनिष्ठ आधार को अधिक महत्त्व देती है। उसका कथन है कि सम्यक्-दृष्टि का समस्त ज्ञान सम्यक् होता है और मिथ्या-दृष्टि का मिथ्या। ऐसी स्थिति में आचारांग आदि जैनशास्त्र भी मिथ्या-दृष्टि द्वारा गृहीत होने पर मिथ्या हैं और सम्यक्-दृष्टि द्वारा गृहीत होने पर सम्यक्। वस्तुनिष्ठ आधार में आचारांग आदि जैनशास्त्रों को सम्यक्-श्रुत कहा गया और महाभारत, रामायण आदि जैनेतर ग्रंथों को मिथ्याश्रुत। प्रथम व्याख्या उपयोगिता को लक्ष्य में रखती है। सम्यक्-दृष्टि अपने ज्ञान का उपयोग आत्मविकास में करता है। अतः उसका प्रत्येक ज्ञान सम्यक् है। दूसरी ओर मिथ्या-दृष्टि उसका उपयोग आत्मपतन में करता है। अतः उसका प्रत्येक ज्ञान मिथ्या है। पाश्चात्य दर्शनों में इस दृष्टिकोण को उपयोगितावाद **Pragmatism** कहा गया है। जिसका विकास अमरीका में हुआ है। दूसरे शब्दों में इसे फलमूलक व्याख्या कहा जायगा। तर्कयुग में व्यक्तिनिष्ठ व्याख्या का स्थान वस्तुनिष्ठ व्याख्या ने ले लिया। उस समय यह कहा गया कि जो ज्ञान घट को घट कहता है, वह सम्यक् है। ज्ञाता सम्यक् दृष्टि हो या मिथ्या दृष्टि इससे ज्ञानके सम्यक्त्व में कोई बाधा नहीं पडती। इस आधार पर सत्य के प्रतिपादक होने के कारण जैनशास्त्रों को सम्यक्श्रुत कहा गया और असत्य के प्रतिपादक होने के कारण जैनेतर ग्रंथों को मिथ्याश्रुत।

पृष्ठ २४, पं. ४ योगजधर्मानुगृहीत–न्यायदर्शन प्रत्येक ज्ञान में आत्मा और मन के संयोग को आवश्यक मानता है। मुक्त-अवस्था में यह संयोग नहीं रहता, अतः ज्ञान भी नहीं होता। योगज अथवा अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष के लिए भी यह संयोग आवश्यक है। किंतु जैनदर्शन के अनुसार ज्ञान आत्मा का स्वाभाविक गुण है। प्रत्येक आत्मा अपने आप में सर्वज्ञ और सर्वदर्शी है। ज्ञान के लिए उसे मन, इंद्रिय आदि किसी बाह्य कारण की अपेक्षा नहीं होती।

वेदांत में अविद्या के दो रूप माने गए हैं–मूलाविद्या और तूलाविद्या। मूलाविद्या का नाश आत्मसाक्षात्कार होने पर ही होता है। उसकी निवृत्ति आंशिक रूप से नहीं होती। घट-पट आदि बाह्य वस्तुओं के ज्ञान में तूलाविद्या आंशिक रूप से हट जाती है और मन का व्यापार बंद होने पर पुनः आवरण डाल देती है। यशोविजय ने भी ज्ञानावरण की व्याख्या इसी प्रकार की है। केवलज्ञानावरण मूलाविद्या के समान है, जो एक ही बार हटता है। प्रथम चार ज्ञानों के आवरण तूलाविद्या के समान हैं, जो आंशिक रूप से हटते हैं और पुनः आत्मा को आवृत कर लेते हैं। इसीलिए जैनदर्शन में माना गया है कि प्रथम चार ज्ञान सतत नहीं रहते 'जब मन में जानने की इच्छा होती है तभी आवरण रहता है और उनका आविर्भाव होता है। इसके विपरीत केवल ज्ञान एक बार उत्पन्न होने पर नष्ट नहीं होता और सतत बना रहता है। आंशिक निवृत्ति के कारण प्रथम चार ज्ञानों में तरतमता रहती है। किंतु केवल ज्ञान में नहीं रहती। वह सर्वत्र एक सा होता है।

पृष्ठ २५, पं. २ तच्च स्मरण–जैनदर्शन मे परोक्ष के पाँच भेद किए गए हैं-स्मरण, प्रत्यभिज्ञान, तर्क,

अनुमान और आगम । अनुमान को चार्वाक के अतिरिक्त सभी दर्शनों ने प्रमाण माना है । बौद्ध तथा वैशेषिक दर्शनों ने तीन भेदों को प्रमाण नहीं माना । सांख्य दर्शन आगम को भी प्रमाण मानता है । न्यायदर्शन प्रस्तुत तीन के अतिरिक्त उपमान को भी जो प्रत्यभिज्ञान का ही रूपांतर है । प्रभाकर ने इन चार के अतिरिक्त अर्थापत्ति नामक स्वतंत्र प्रमाण माना है वास्तव में देखा जाय तो यह अनुमान का ही एक प्रकार है। वेदांत और भट्ट मीमांसको ने अभावनामक छठा प्रमाण माना है । अन्य दर्शन इसे भी अनुमान में सम्मिलित करते हैं । जैनदर्शन ने स्मरण और तर्क को भी प्रमाण माना है । जिसे अन्य दर्शनों ने स्वीकार नहीं किया । उनका कथन है कि प्रमाण का कार्य है–अज्ञात वस्तु का ज्ञान कराना । स्मरण में जिस वस्तु का भान होता है, वह अज्ञात नहीं होती । पूर्वगृहीत होने के कारण उसके ज्ञान को प्रमाण नहीं कहा जा सकता । उत्तर में जैनदर्शन का कथन है कि वस्तु ज्ञात हो या अज्ञात यदि प्रतीतिसत्य है तो उसे प्रमाण मानना चाहिए। अज्ञातता को प्रामाण्य का नियामक तत्त्व नहीं मानना चाहिए । तर्क का अर्थ है-व्याप्ति का ज्ञान । जहाँ-जहाँ धूआँ है, वहाँ अग्नि होती है । अग्नि व्यापक है और धूम व्याप्य । इसी ज्ञान को तर्क कहा जाता है। न्यायदर्शन इसका प्रतिपादन दूसरे रूप में करता है । उसका कथन है कि व्याप्ति का ज्ञान प्रत्यक्ष के द्वारा होता है हम अनेक स्थानों पर धूम और अग्नि को एक साथ देख कर इस परिणाम पर पहुँचते हैं । फिर भी मन में संदेह रह जाता है कि संभव है कहीं धूम हो और अग्नि न हो, इस संदेह का निराकरण तर्क करता है। उसका कथन है कि धूम अग्नि का कार्य है । जहाँ कार्य होता है, कारण अवश्य होता है । कार्य-कारण भाव के इस शाश्वत सिद्धांत के आधार पर धूम को व्याप्य और अग्नि को व्यापक माना जाता है । साथ ही यह भी तर्कशास्त्र का नियम है कि जहाँ व्याप्य होता है, व्यापक अवश्य रहता है । न्यायदर्शन इस तर्क को नीचे लिखे शब्दों में उपस्थित करता है–

'यदि धूमो वह्निव्याप्यो न स्यात् वह्निजन्यो न स्यात् ।' अर्थात् धूम यदि अग्नि का व्याप्य नहीं है तो कार्य भी नहीं हो सकता । उसका कार्य होना व्याप्य होने को सिद्ध करता है । जैनेतरदर्शनों का कथन है कि तर्क के द्वारा कोई नूतन ज्ञान नहीं होता, अतः उसे प्रमाणकोटि में नहीं रखा जा सकता । फिर भी सभी ने उसे अनुमान का जीवनदाता माना है । इसी प्रकार स्मृति, उपमान तथा अनुमान दोनों को जीवनप्रदान करती है । जैनदर्शन अप्रमाण का अर्थ मिथ्याज्ञान करता है । और इसी आधार पर स्मृति तथा तर्क को अप्रमाण कोटि में नहीं रखता । जैनेतरदर्शन इन दोनों को मिथ्याज्ञान न होने पर भी अज्ञातवस्तु के ज्ञापक न होने के कारण प्रमाण नहीं मानते ।

स्मृति को प्रमाणसिद्ध करते समय यशोविजय ने पूर्वपक्ष के रूप में दो तर्क उपस्थित किए हैं । प्रथम तर्क यह है कि स्मृति में 'स देवदत्तः' इस प्रकार का भान होता है । इसमें देवदत्त विशेष्य है और स विशेषण। जोकि देवदत्त की परोक्षता और अतीतता की सूचित करता है । परोक्षता के संबंध में कोई विवाद नहीं है, किंतु यह आवश्यक नहीं है कि स्मृति के समय देवदत्त अतीत हो चुका हो । उस समय भी वह वर्तमान हो सकता है । ऐसी स्थिति में अतीतत्व की प्रतीति सम्यक् नहीं कही जा सकती । यशोविजय का कथन है कि यह विशेषण सर्वत्र विशेष्य की अतीतता का बोधक नहीं है । यहाँ अतीतता का संबंध विषय के साथ न होकर उस प्रतीति के साथ है जो पहले हो चुकी है। यदि तत् का अर्थ केवल परोक्ष किया जाए तब भी यह आपत्ति नहीं रहती । पूर्व पक्ष की दूसरी युक्ति यह है कि स्मृति का प्रामाण्य प्रत्यक्ष के प्रामाण्य पर निर्भर है । यदि प्रत्यक्ष अभ्रांत है तो उसकी स्मृति भी अभ्रांत कही जायगी । इसके विपरीत यदि वह मिथ्या है तो स्मृति भी मिथ्या होगी । इस प्रकार स्मृति का प्रामाण्य स्वतंत्र नहीं है । अतः उसे प्रमाण नहीं मानना चाहिए। उत्तर में यशोविजय का कथन है कि अनुमान का प्रामाण्य भी व्याप्तिज्ञान के प्रामाण्य पर निर्भर होता है, फिर भी उसे प्रमाण माना जाता है । अतः प्रामाण्य का आधार स्वातंत्र्य न होकर ज्ञान की यथार्थता, है और इस आधार पर स्मृति को अप्रमाण नहीं कहा जा सकता ।

पृष्ठ २६, पं. ६ अनुभवस्मृतिहेतुकं.......... प्रत्यभिज्ञानम्–जैनेतर दर्शनों में प्रत्यभिज्ञा शब्द का प्रयोग साधना के क्षेत्र में मिलता है। कश्मीर की शैवसाधना को प्रत्यभिज्ञा-दर्शन कहा जाता है। वहाँ यह माना गया है कि प्रत्येक जीव शिव अर्थात् परमात्मा का संकुचित रूप है। अपने आप में शिव होने पर भी अज्ञान के कारण जीव या पशु मान रहा है। उसके दूर होते ही अपने स्वरूप को पहचान लेता है और शिव हो जाता है। इसी पहचान को प्रत्यभिज्ञा कहा गया है।

लौकिकज्ञान के क्षेत्र में इसके स्थान पर उपमान शब्द का प्रयोग मिलता है। इसका अर्थ है–तुलना के द्वारा प्राप्त होने वाला ज्ञान। किसी व्यक्ति को कहा जाता है कि 'गवय' गाय के सदृश होता है। वन में जाकर वह गो-सदृश प्राणी को देखता है और समझ लेता है कि यह गवय है। न्याय तथा सांख्यदर्शन इसकी परिभाषा इसी रूप में करते हैं। किंतु जैनदर्शन इसकी व्याख्या व्यापक रूप में करता है। उसका कथन है कि प्रत्यक्ष और स्मृति से उत्पन्न होने वाले सभी अनुभव प्रत्यभिज्ञान है उदाहरण के रूप में एक ही व्यक्ति को दुबारा देखकर हम कहते हैं "यह वही देवदत्त है"। यह एकत्व-प्रत्यभिज्ञान है। यज्ञदत्त को देखकर हम कहते हैं-"यह देवदत्त नहीं है"। दो भाइयों में से एक को देखकर कहते हैं-यह उस सरीखा है। इस प्रकार एकत्व, वैसादृश्य तथा सादृश्य आदि सभी तुलनात्मक ज्ञान प्रत्यभिज्ञान में आजाते हैं।

पृष्ठ २९, पं. २ एतेनेति–मीमांसक भी उपमान की व्याख्या में सादृश्य को आवश्यक नहीं मानते। उनका कथन है कि इसके लिए संज्ञा और संज्ञि का संबंध पर्याप्त है। हम किसी व्यक्ति को बताते हैं कि गवय ऐसा होता है। वन में जाकर वह उस लक्षणवाले प्राणी को देखता है और पहचान जाता है। यह ज्ञान लक्षण के आधार पर होता है। सादृश्य के आधार पर नहीं।

पृष्ठ ३०, पं. ८ स्वरूपप्रयुक्ता–व्याप्ति दो प्रकार की होती है। सोपाधिक और निरुपाधिक। जहाँ साध्य किसी अन्य तत्त्व के बिना हेतु को व्याप्त करता है, उसे निरुपाधिक-व्याप्ति कहा जाता है। जैसे–अग्निद्वारा धूम की व्याप्ति। जहाँ धूम है, वहाँ अग्नि अवश्य होगी। इसके लिए अग्नि को किसी अन्य तत्त्व की अपेक्षा नहीं होती। अतः यह निरुपाधिक व्याप्ति है। इसके विपरीत धूम अग्नि को तभी व्याप्त करता है जब उसके साथ आर्द्र ईंधन हो। यहाँ आर्द्र ईंधन उपाधि है। इस संबंध को सोपाधिक कहा जाता है। जहाँ साध्य किसी उपाधि के बिना हेतु को व्याप्त करता है, उस संबंध को स्वरूपस्थ या स्वाभाविक कहा जाता है। वहीं पर हेतु को सम्यक् माना जाता है, वही सोपाधिक होने पर हेत्वाभास हो जाता है।

पृष्ठ ३१, पं. २ अथ स्वव्यापक.......ऊपर बताया जा चुका है कि व्याप्ति-ज्ञान के बिना अनुमान नहीं हो सकता। हम दस-बीस स्थानों पर धूम और अग्नि को एक साथ देखते हैं और इसके द्वारा यह निश्चय करते हैं कि जहाँ धूम होगा, वहाँ अग्नि अवश्य होगी। यहाँ प्रश्न होता है कि कुछ स्थानों पर साहचर्य दर्शन से त्रैकालिक एवं सार्वदेशिक व्याप्ति का निश्चय कैसे हो सकता है ? दो मित्र बीसों बार एक साथ दिखाई देते हैं, किंतु इतने मात्र से यह निर्णय नहीं किया जा सकता कि एक के बिना दूसरे का अस्तित्व ही संभव नहीं है। इसके उत्तर में न्यायदर्शन सामान्यलक्षणाप्रत्यासत्ति को उपस्थित करता है। उसका कथन है कि स्थानविशेष पर धूम और अग्नि को एक साथ देख कर हम धूमत्व और अग्नित्व के रूप में समस्त–धूम एवं समस्त अग्नियों का ज्ञान कर लेते हैं और इसी आधार पर व्याप्ति का निश्चय करते हैं। इसके स्थान पर वह तर्कनामक स्वतंत्र प्रमाण को उपस्थित करता है और उसी को व्याप्ति का नियामक मानता है।

अथ स्वव्यापकसाध्य.......सम्भवादिति चेत्–इसके विपरीत न्यायदर्शन का कथन है कि प्रत्यक्ष ही व्याप्ति को ग्रहण करता है। यहाँ पूछा जाता है कि चक्षु आदि इंद्रियों के द्वारा धूम और अग्नि के सामाना-धिकरण्य को सर्वत्र कैसे जाना जा सकता है ? क्योंकि इंद्रियों का संबंध कुछ ही स्थानों के साथ हो सकता है। उत्तर में न्यायदर्शन का कथन है कि यद्यपि लौकिक संनिकर्ष कुछ ही स्थानों पर होता है, तथापि सामान्यलक्षणा-

नामक प्रत्यासत्ति के द्वारा सार्वत्रिक संबंध को जाना जा सकता है। जैनदर्शन का कथन है कि तर्क या ऊह के बिना सामान्यलक्षणप्रत्यासत्ति संभव नहीं है—इसकी व्याख्या दो प्रकार से की जाती है। सामान्य का ज्ञान या ज्ञायमान सामान्य। किंतु यहाँ प्रश्न होता है कि जब तक समस्त व्यक्तियों का प्रत्यक्ष नहीं होता तब तक उसमें रहनेवाले सामान्य का प्रत्यक्ष कैसे हो सकता है ? इसके लिए एक ही उपाय है कि विचार या पर्यालोचन के रूप में पृथक् ज्ञान माना जाय। उसी को जैनदर्शन में ऊह या तर्क कहा गया है।

पृष्ठ ३३, पं. ७ **आहार्यप्रसंजनम्**–धूम को देखकर अग्नि का अनुमान किया जाता है। धूम व्याप्य है और अग्नि व्यापक। अनुमान का समर्थन करने के लिए यह कहा जाता है कि जहाँ व्यापक नहीं होता वहाँ व्याप्य भी नहीं होता। यहाँ व्यापक अर्थात् अग्नि का अभाव व्याप्य हो जाता है और व्याप्य अर्थात् धूम का अभाव व्यापक। व्याप्तिनिश्चय के लिए होनेवाली इस प्रतीति को आहार्य ज्ञान कहा जाता है। क्योंकि उसका कोई विषय नहीं होता।

पृष्ठ ३३, पं. ८ **विरोधि शंका**–'स्थाणुर्वा पुरुषो वा' इस संशय में दो कोटियों का भान होता है। प्रतीति के स्पष्ट होने पर एक कोटि का प्रत्यक्ष हो जाता है और 'स्थाणुरेवायम्' यह प्रतीति होने लगती है। इसके साथ ही 'न पुरुषः' इस प्रकार निराकरण भी होता है । यहाँ प्रश्न होता है–प्रत्यक्ष तो विध्यात्मक होता है, फिर निराकरण किस ज्ञान का विषय है ? जैनदर्शन इसके लिए तर्कनामक प्रमाणांतर उपस्थित करता है। न्यायदर्शन विशेषणतानामक सन्निकर्ष द्वारा अभाव का भी प्रत्यक्ष मानता है। उसका कथन है कि 'घटाभाववत् भूतलं' इस ज्ञान में चक्षु का संबंध भूतल के साथ होता है और घटाभाव भूतल का विशेषण है, अतः उसका भी प्रत्यक्ष हो जाता है। 'स्थाणुरयं न पुरुषः' इस ज्ञान में 'पुरुषाभाव' 'इदं' अर्थात् पुरोवर्ती वस्तु का विशेषण है।

पृष्ठ ३४, पं. ३ **इत्थं च**–न्यायदर्शन का कथन है कि तर्क का कार्य विरोधी शंका को दूर करना है। धूमद्वारा अग्नि के अनुमान में यह शंका हो सकती है कि धूम होने पर भी अग्नि न हो ! तर्क इस शंका का निराकरण करता है। वह कहता है कि अग्नि के बिना धूम का अस्तित्व तभी हो सकता है यदि वह अग्नि का व्याप्य न हो, किंतु अग्नि का कार्य होने के कारण वह उसका व्याप्य भी है। अतः अग्नि के बिना उसका अस्तित्व संभव नहीं है। इस प्रकार तर्क व्यभिचार शंका का निराकरण करता है। स्वतंत्र रूप से किसी नए ज्ञान को उत्पन्न नहीं करता। इसीलिए प्रमाण नहीं है। किंतु धर्मभूषण ने तर्क को अज्ञान का निवर्तक बताया है। यशोविजय का कथन है कि यहाँ अज्ञान का अर्थ व्यभिचार-शंका है, ज्ञानाभाव नहीं। ज्ञान का अर्थ है-निश्चयात्मक प्रतीति। निश्चयात्मक न होने के कारण संशय भी अज्ञान ही है और उसका निवर्तक होने के कारण तर्क को प्रमाण माना जा सकता है।

पृष्ठ ३५, पं. १ **निश्चितान्यथानुपपत्त्येकलक्षणो हेतुः**–हेतु और साध्य के परस्पर संबंध को लेकर भारतीय दर्शनों में विस्तृत चर्चा है। बौद्ध तार्किकों ने इसके लिए त्रिलक्षण के रूप में मापदंड उपस्थित किया है—

१) पक्षसत्त्व—अर्थात् हेतु को पक्ष में रहना चाहिए। पक्ष का अर्थ है-वह स्थान जहाँ अनुमानद्वारा साध्य का अस्तित्व बताया जाता है। पर्वत में अग्नि का अस्तित्व बताते समय पर्वत पक्ष है।

२) सपक्षसत्त्व—सपक्ष का अर्थ है-वह स्थान जहाँ साध्य का अस्तित्व पूर्वनिश्चित है, जैसे रसोईघर। वहाँ भी हेतु का होना आवश्यक है।

३) विपक्षासत्त्व—विपक्ष का अर्थ है-वह स्थान जहाँ साध्य का न होना निश्चित है, जैसे सरोवर। पानी में आग नहीं होती। ऐसे स्थान में हेतु नहीं रहना चाहिए। जिस हेतु में ये तीनों बातें हैं, वही साध्य

को सिद्ध कर सकता है। न्यायदर्शन हेतु और साध्य में कार्य-कारणभाव अथवा व्याप्य-व्यापकभाव का होना आवश्यक मानता है। धूम और अग्नि में कार्य-कारणभाव है तथा ब्राह्मणत्व और मनुष्यत्व में व्याप्य-व्यापक-भाव। हेतु कार्य या व्याप्य होता है और साध्य कारण या व्यापक। जैनदर्शन इन संबंधों की चर्चा में नहीं पड़ता। उसका कथन है कि हेतु के विषय में इतना पर्याप्त है कि साध्य के बिना उसका न रहना निश्चित हो। इतने मात्र से वह साध्य का प्रत्यायक हो सकता है। उदाहरण के रूप में हम यह अनुमान करते हैं कि कल रविवार होगा, क्योंकि आज शनिवार है। शनि और रवि में कार्यकारण या व्याप्य-व्यापक का संबंध नहीं है। फिर भी अनुमान किया जा सकता है। पके हुए फल के रंग को देखकर हम उसके मीठा होने का अनुमान करते हैं। क्योंकि रूप और रस सहचर हैं। इस प्रकार जैन तार्किकों ने हेतु के पूर्वचर, उत्तरचर, सहचर आदि अनेक भेद किए हैं। वास्तव में देखा जाय तो यह मतभेद केवल शाब्दिक है। न्यायदर्शन इन्हीं हेतुओं को दूसरे शब्दों में उपस्थित करता है। उदाहरण के रूप में वह कहेगा—कल रविवार होगा, क्योंकि वह शनिवार का उत्तरभावी है। रविवारत्व और शनिवार के उत्तरभावित्व का सामानाधिकरण्य है और इसी आधार पर व्याप्ति स्थिर की जाती है।

पृष्ठ ३७, पं. १० शंकित ····· अप्रतीतमितिविशेषणम्—अप्रतीत का अर्थ है असिद्ध अथवा अज्ञात। जो वस्तु सिद्ध या ज्ञात नहीं है, उसी को साध्य के रूप में उपस्थित किया जाता है, किंतु बहुत बार ऐसा भी होता है कि पूर्वसिद्ध वस्तु में भी प्रतिवादी अथवा जिज्ञासु के द्वारा शंका उपस्थित होने पर उसे सिद्ध करने का प्रयत्न किया जाता है। ऐसी स्थिति में वह पुनः साध्य बन जाती है। इसी प्रकार विपरीत धारणा को दूर करने के लिए जमे हुए विश्वास की पुनः परीक्षा की जाती है। अतः यहाँ अप्रतीति शब्द के तीन अर्थ हैं— शंकित, विपरीत और अनध्यवसित।

पृष्ठ ३८, पं. १ प्रत्यक्षादिविरुद्धस्य न्यायदर्शन अनुमान को प्रत्यक्ष से प्रबल मानता है। किंतु जैन-दर्शन का कथन है कि प्रत्यक्ष अनुमान का उपजीव्य है। अतः प्रत्यक्ष से प्रबल नहीं हो सकता। जो अनुमान प्रत्यक्षबाधित है, उसे सम्यक् नहीं कहा जा सकता।

पृष्ठ ४०, पं. ५ **विकल्पसिद्ध**—जिस वस्तु में साध्य की सत्ता सिद्ध की जाती है, उसे पक्ष या धर्मी कहा जाता है। यह कहीं पर प्रमाणसिद्ध होता है, जैसे अग्नि के अनुमान में पर्वत। हम उसे प्रत्यक्ष देखते हैं। किंतु बहुत से अनुमान ऐसे भी होते हैं जहाँ धर्मी की केवल कल्पना की जाती है। सत्यासत्य का निर्णय बाद में होता है। उदाहरण के रूप में मीमांसक सर्वज्ञ का अस्तित्व नहीं मानता। उसके सामने सर्वज्ञ की सत्ता का अनुमान प्रस्तुत करते समय कहा जायगा कि—'अस्ति सर्वज्ञः'। यहाँ सर्वज्ञ पक्ष है और उसमें अस्तित्व साध्य है। मीमांसक प्रश्न उठाता है कि पक्ष के बिना आप साध्य को कहाँ सिद्ध कर रहे हैं? इस विसंगति को दूर करने के लिए जैनदर्शन का कथन है कि यहाँ पक्ष या धर्मी विकल्पसिद्ध है। अर्थात् उसे वास्तविक या अवास्तविक कुछ न कहकर हम अनुमान करते हैं और यदि हेतु साध्य को सिद्ध कर देता है तो पक्ष भी प्रमाणित हो जाता है। न्यायदर्शन ऐसे स्थानों पर अनुमान का रूप बदल देता है। वह व्यक्तिविशेष को लेकर सर्वज्ञत्व की सिद्धि करेगा। अथवा 'अस्ति सर्वज्ञः' न कहकर 'अस्ति कश्चिद् सर्वज्ञः' यों कहेगा। ऐसी स्थिति में 'कश्चित्' पक्ष हो जाता है और सर्वज्ञत्व साध्य। ईश्वर का अस्तित्व सिद्ध करते समय भी 'ईश्वरो अस्ति, नहीं कहता। इसके स्थान पर कहता है—'क्षित्यंकुरादिकं कर्तृजन्यं,' कार्यत्वात्' यहाँ पक्ष क्षिति, अंकुर आदि हैं और उनमें कर्तृजन्यत्व साध्य है। मनुष्य उनका कर्त्ता नहीं हो सकता, अतः अपने-आप ईश्वर का अस्तित्व सिद्ध हो जाता है।

यशोविजय ने भी विशेषावश्यक-भाष्य का उल्लेख करते हुए इस तथ्य को स्वीकार किया है। उनका कथन है कि निषेध करते समय समासयुक्त पद को तोड कर एक में दूसरे का अपलाप समझना चाहिए।

उदाहरण के रूप में जब हम कहते हैं-'खरविषाणं नास्ति' तो इसका अर्थ है–'खरे विषाणं नास्ति'। यहाँ खर धर्मी है और उसमें विषाणरूप धर्म का निषेध किया गया है। भाष्यकार का कथन है कि असत् का निषेध नहीं होता।

पृष्ठ ४७, पं. ७ कश्चित् कारणरूप ...... कार्य से कारण और व्याप्य से व्यापक का अनुमान सभी दर्शनों ने माना है। जैनदर्शन का कथन है कि कारण से भी कार्य का अनुमान हो सकता है। जैसे विशेषप्रकार के बादलों को देखकर यह अनुमान किया जा सकता है कि वृष्टि होगी। न्यायदर्शन अग्नि से धूम के अनुमान को सोपाधिक कहता है और उसे हेत्वाभास मानता है। उसका कथन है कि अग्नि से धूंआँ तभी उत्पन्न होता है, ईंधन जब आर्द्र हो। यही उपाधि है। जैनदर्शन का कथन है कि जहाँ कारण का पूरी तरह पर्यालोचन हो सकता हो, वहाँ उससे कार्य का अनुमान किया जा सकता है। इसके लिए दो बातें उपस्थित की जाती हैं-कारण साकल्य और सामर्थ्य का अप्रतिबंध। अतः कारण को हेत्वाभास नहीं मानना चाहिए। इसी प्रकार पूर्वचर, उत्तरचर आदि हेतु भी हो सकते हैं। सांख्य-कारिका में कारण से कार्य के अनुमान को पूर्ववत कहा गया है। इसका अर्थ है-पूर्वावस्था से उत्तर-अवस्था का अनुमान। इसके विपरीत कार्य से कारण के अनुमान को शेषवत् कहा है और व्याप्य से व्यापक के अनुमान को सामान्यतोदृष्ट।

पृष्ठ ५६, पं. ९ के पुनः कालादयः? .. अनेकांत जैनदर्शन का सर्वस्व है। उसका कथन है कि एक ही वस्तु का भिन्न-भिन्न अपेक्षाओं से अनेक रूपों में प्रतिपादन किया जा सकता है। एक ही व्यक्ति किसी की अपेक्षा पिता है, किसी की अपेक्षा भाई, किसी की अपेक्षा पुत्र और किसी की अपेक्षा पति। विरोध तभी होता है जब अपेक्षाओं को छोड दिया जाता है। इसी प्रतिपादन शैली को स्याद्वाद कहा जाता। स्याद् का अर्थ है-कथंचित् अर्थात् किसी अपेक्षा से और वाद का अर्थ है- कथन या वक्तव्य। आगम साहित्य में इसके लिए चार अपेक्षाएँ मिलती हैं। द्रव्य, अर्थात् व्यक्ति, क्षेत्र, काल, और भाव अर्थात् अवस्था या पर्याय। यशोविजय ने इनकी संख्या आठ बताई है। इनमें आत्मरूप, गुणिदेश और काल क्रमशः द्रव्य क्षेत्र और काल के समान हैं। भाव को ५ बातों में विभक्त कर दिया गया है–अर्थ, संबंध, उपकार, संसर्ग और शब्द। जर्मनी के प्रसिद्ध दार्शनिक कांट ने भी इन अपेक्षाओं का प्रतिपादन किया है। उन्होंने वस्तु का दो भागों में विश्लेषण किया है। प्रथम भाग है, वस्तु का अपना स्वरूप (**Thing in itself**) दूसरा भाग हैं उसकी व्याख्या (**Interpretation**) व्याख्या करते समय प्रत्येक व्यक्ति अपनी परिस्थिति का ध्यान रखता है। स्थान क्षेत्र, स्वार्थ, वैयक्तिक संबंध आदि तत्त्व इस परिस्थिति के घटक हैं। जैनदर्शन का भी कथन है कि शब्द समग्रवस्तु का प्रतिपादन नहीं कर सकता। प्रत्येक वस्तु अनंत धर्मात्मक है और वक्ता अपनी अपेक्षा के अनुसार किसी धर्म को पकडकर व्यवहार करता है। वेदांत ने मूल द्रव्य को सत्य कहा और इन अपेक्षाओं या गुणों को मिथ्या। दूसरी ओर बौद्ध दर्शन का कथन है कि केवल गुण ही सत्य हैं। द्रव्य की सत्ता कोरी कल्पना है। जैनदर्शन दोनों का समन्वय करता है। उसका कथन है कि दोनों सत्य हैं। सामान्य और विशेष दोनों वास्तविक हैं। घडे को घडा भी कहा जा सकता है और एक सत्ता भी। यह वक्ता की अपनी दृष्टि है कि वह सामान्य का प्रतिपादन करता है और कहीं विशेष का।

पृष्ठ ५९, पं. २ अथ नया–नय शब्द की व्युत्पत्ति है–'नीयते अनेनेति नयः' अर्थात् वह प्रतीति जिसके द्वारा व्यक्ति किसी एक दिशा की ओर चल पडता है। प्रमाण सर्वग्राही होता है। उसका लक्ष्य होता है, वस्तु को पूर्ण रूप से जानना। इसके विपरीत नय का झुकाव वस्तु के किसी एक अंश की ओर होता है। वह दूसरे अंश का अपलाप नहीं करता। किंतु तात्कालिक स्वार्थ को लेकर किसी एक का चुनाव करता है। उदाहरण के रूप में एक ही व्यक्ति को भिन्न-भिन्न अवसरों पर भिन्न-भिन्न शब्दों द्वारा प्रकट किया जाता है। जब व्यवसाय की चर्चा होती है तब उसे अध्यापक या व्यापारी कहा जाता हैं। जब जाति की तो ब्राह्मण

या क्षत्रिय, जव प्राणिशास्त्र की तो मनुष्य, जब दार्शनिक तत्त्वों की तो आत्मा या चेतन। विभिन्न अपेक्षाओं के आधार पर किए जाने वाले इस व्यवहार को 'नय' कहा जाता है। प्रमाण का मुख्य लक्ष्यवस्तु का ज्ञान होता है और नय का मुख्य लक्ष्य व्यवहार।

पृष्ठ ६३, पं. ६ तथा विशेषग्राहिणः – तत्त्वार्थसूत्र में आया है 'अर्पितानर्पितसिद्धेः' अर्थात् वस्तु अर्पित और अनर्पित के रूप में सिद्ध होती है। अर्पित का अर्थ है–विशेष। जहाँ वस्तु को कोई आकार दे दिया जाता है। अनर्पित का अर्थ है–सामान्य, जहाँ यह आकार नहीं दिया जाता।

पृष्ठ ६४, पं. ८ स्थितपक्षत्वाद्–नय के स्वरूप में बताया गया है कि वह किसी एक पक्ष को लेकर चलता है। सैद्धान्तिक चर्चा के समान साधना के क्षेत्र में भी उसका वही दृष्टिकोण है। जैनदर्शन मोक्ष के लिए दर्शन, ज्ञान और चारित्र तीनों को कारण मानता है। जैनेतर दर्शनों में भक्तिवादी परंपराएँ दर्शन या श्रद्धा पर बल देती हैं। वेदांत, सांख्य, न्याय आदि दार्शनिक परंपराएँ ज्ञान पर और मीमांसक क्रिया पर। जैनसाधना में भी विभिन्न नय विभिन्न साधनों को पृथक्-पृथक् रूप में लेकर चलते हैं।

इन्द्रचन्द्र शास्त्री